# पूर्वोत्तर प्रभा

(विशेषज्ञों द्वारा समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका)

जनवरी-जून 2021

प्रवेशांक

हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय

# पूर्वोत्तर प्रभा

(विशेषज्ञों द्वारा समीक्षित अर्द्धवार्षिक पत्रिका)

जनवरी–जून, 2021

**प्रवेशांक**

**मूल्य**

एक प्रति : 50 रुपये

**सदस्यता**

वार्षिक : 500 रुपये
त्रैवार्षिक : 1200 रुपये
आजीवन : 5000 रुपये

**विदेशों के लिए (हवाई डाक)**

एक अंक : 6 $
वार्षिक : 24 $
आजीवन : 300 $

***संपादकीय संपर्क***

*हिंदी विभाग*
*सिक्किम विश्वविद्यालय*
*गंगटोक, सिक्किम 737 101*
*दूरभाष : +91 96098-75813*
*ईमेल : purvottarprabha@gmail.com*

**'पूर्वोत्तर प्रभा'** में प्रकाशित सभी लेखों पर संपादक की सहमति हो, यह आवश्यक नहीं है। प्रकाशित सामग्री की सत्यता व मौलिकता हेतु लेखक स्वयं जिम्मेदार है। पत्रिका में प्रकाशित किसी भी लेख पर आपत्ति होने पर उसके विरुद्ध कार्यवाही केवल गंगटोक, सिक्किम न्यायालय के अधीन होगी।

*डॉ. चुकी भूटिया द्वारा हिंदी विभाग, सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक, सिक्किम 737 101 के लिए मधुराक्षर प्रकाशन, फतेहपुर, उ.प्र. से प्रकाशित प्रसारित।*

***संपादक : डॉ. चुकी भूटिया***

**संरक्षक**

**प्रो. अविनाश खरे**
कुलपति, केंद्रीय विश्वविद्यालय सिक्किम, गंगटोक

**प्रधान संपादक**

**डॉ. हरदीप सिंह**
सह प्राध्यापक (हिंदी),
केंद्रीय विश्वविद्यालय सिक्किम, गंगटोक

**संपादक**

**डॉ. चुकी भूटिया**
सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
केंद्रीय विश्वविद्यालय सिक्किम, गंगटोक

**संपादक मंडल**

**डॉ. दिनेश साहू**
सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
केंद्रीय विश्वविद्यालय सिक्किम, गंगटोक

**डॉ. प्रदीप त्रिपाठी**
सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
केंद्रीय विश्वविद्यालय सिक्किम, गंगटोक

**परामर्श मंडल**

**प्रो. कविता लामा**
अधिष्ठाता, भाषा-साहित्य संकाय
केंद्रीय विश्वविद्यालय सिक्किम, गंगटोक

**प्रो. ज्योति प्रकाश तामांग**
प्रोफेसर, सूक्ष्म जीव विज्ञान विभाग
केंद्रीय विश्वविद्यालय सिक्किम, गंगटोक

**प्रो. मोहन**
प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

**प्रो. दिनेश कुमार चौबे**
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय

**प्रो. अवधेश कुमार**
अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

**प्रो. सुधा जितेन्द्र**
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
गुरुनानक देव विश्वविद्यालय

**प्रो. दिलीप कुमार मेधी**
प्रोफेसर, हिंदी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय

**प्रो. आर. एस. सर्राजु**
प्रोफेसर, हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय

**प्रो. देवेन्द्र कुमार गुप्ता**
प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

Visit us
https://cus.ac.in/

# पूर्वोत्तर प्रभा

जनवरी–जून, 2021

**बहुविषयक, विशेषज्ञों द्वारा समीक्षित अर्द्धवार्षिक पत्रिका**

**05.** संपादकीय
**डॉ.चुकी भूटिया**
**06.** पर्यावरण एवं मानवाधिकार के प्रश्न : हिमालय एवं पूर्वोत्तर के विशेष सन्दर्भ में
**अभिषेक सौरभ**
**11.** जीवन की खुली पाठशाला को पढ़ाता : एक था ठुनठुनिया
**प्रीति प्रसाद**
**15.** नव-उपनिवेशिक संस्कृति के दौर में नव वामपंथी कविता
**षेजू के**
**19.** मुर्दहिया में चित्रित अविस्मृत लोक पात्र
**कुमार सत्यम**
**22.** साझी संस्कृति की विरासत और कितने पकिस्तान
**जयंती सिंह**
**24.** खिड़की के सहारे खुलता जीवन का रहस्य : दीवार में एक खिड़की रहती थी के संदर्भ में
**शुभम**
**27.** सेवाभाव  से प्रेरित पत्रकारिता : गाँधी के विशेष संदर्भ में
**नंदिनी हर्षदराय, डॉ.विनोद कु.पांडेय**
**32.** केदारनाथ अग्रवाल के साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ
**ज्योति कुशवाहा**
**35.** 'पूस की रात' कहानी की प्रासंगिकता
**सबनम भुजेल**
**38.** कहानी की तलाश में अभिव्यक्त आम व्यक्ति का अंतर्द्वंद्व
**विद्या छेत्री**
**42.** हिंदी सिनेमा में दलित जीवन की अभिव्यक्ति
**कुलदीप सिंह**
**45.** प्रेमचंद और हमारा समय
**नीलम कुमारी**
**54.** रामनरेश त्रिपाठी की सामाजिक प्रतिबद्धता
**पुरन्दरदास**
**58.** कवितावली में महामारी का परिदृश्य
**डॉ. संतोष कुमार बघेल**
**62.** स्वाधीन भारत के दो दशक पहले : हिंदी साहित्य में मोहभंग की स्थिति
**डॉ. धंनजय**
**66.** राजस्थान की संत वाणी में प्रकृति और पर्यावरण
**डॉ. हरीश कुमार**
**70.** संत कवि नितानंद के काव्य में विरह-वेदना
**डॉ. अमित कुमार**
**73.** गालो समाज का दर्शन
**डॉ. तादाम रूती**
**77.** कबीर पर दावेदारी
**डॉ. संतोष कुमार**
**81.** राजस्थान का लोक साहित्य : एक सांस्कृतिक विश्लेषण
**डॉ. कमला चौधरी**
**85.** असंगठित क्षेत्र में काम कर रही भारतीय महिलाओं की सुरक्षा
**डॉ. मनोरमा गौतम**
**90.** साहित्य और प्रकृति का अंतर्संबंध
**डॉ. वासुदेवन शेष**
**94.** अमेरिकी हिंदी साहित्य और अमेरिका में हिंदी शिक्षण की संभावनाएं एवं चुनौतियां
**प्रो. इला प्रसाद**
**98.** विभाजन की त्रासदी और स्त्री
**प्रो. शंभु गुप्त**
**106.** स्थानीय लोकगीतों  में  झूलता  हुआ भविष्यादर्शी सवेरा
**डॉ. आरिफ जमादार**

6 माइल, समादुर, तादोंग–737102
गंगटोक, सिक्किम, भारत
फोन- 03592-251067, 251073
वेबसाइट : www.cus.ac.in

6 Mile, Samadur, Tadong-737102
Gangtok, Sikkim, India
Ph. 03592-251067, 251073
Website: www.cus.ac.in

# सिक्किम विश्वविद्यालय
# SIKKIM UNIVERSITY

(भारत के संसद के अधिनियम द्वारा वर्ष 2007 में स्थापित और नैक (एनएएसी) द्वारा वर्ष 20015 में प्रत्यायित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
(A Central University established by an Act of Parliament of India in 2007 and accredited by NAAC in 20015)

**The Vice-Chancellor** **Date : 28-05-2021**

## शुभकामना संदेश

केंद्रीय विश्वविद्यालय सिक्किम के हिंदी विभाग की शोध पत्रिका 'पूर्वोत्तर प्रभा' बहुविषयक विशेषज्ञों द्वारा समीक्षित अर्ध-वार्षिक शोध पत्रिका है। 'पूर्वोत्तर प्रभा' केवल पूर्वोत्तर केंद्रित ही नहीं अपितु समग्र भारत और पूरे विश्व भर के विद्यार्थियों, शोधार्थियों और विद्वानों के नवीन और मौलिक शोध कार्य को मंच प्रदान करेगा। भाषा, साहित्य, समाज, कला और संस्कृति के क्षेत्र में शोध के लिए प्रकाश स्तम्भ और शक्ति स्तम्भ बनकर शोध के वैश्विक मानकों पर खरी उतरेगी और उच्च स्तरीय शोध को बढ़ावा देगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

शुभकामनाओं सहित !

**प्रो. अविनाश खरे**
कुलपति
केंद्रीय विश्वविद्यालय सिक्किम, गंगटोक

# संपादकीय

आत्मीय पाठक वृन्द
'पूर्वोत्तर प्रभा' का प्रवेशांक आपके हाथों में है ,यह एक शोध पत्रिका है,जीवन की प्रकृति जैसी विस्तृत-व्यापक होती है आलेखों के संकलन में भी इसी दृष्टि को केंद्र में रखा गया है,जहाँ विषय की विविधता है,जीवन के विविध रंग की मौजूदगी |

शोध एक गंभीर प्रक्रिया है | इसका अपना एक शास्त्र है ,जिसके अनुसरण से ज्ञान के क्षेत्र में नया अध्याय जोड़ने की कोशिश होती है |'पूर्वोत्तर प्रभा' का लक्ष्य शोध की गंभीरता से शोधार्थी का परिचय करवाना है,शोध कार्य की दिशा में उन्हें प्रोत्साहित कर शोध की अच्छी समझ को विकसित करना है |वहीँ इस बात की कोशिश भी है कि शोधार्थी अपने अध्ययन प्रवृत्ति को उन्नत करें ताकि शोध की सही दिशा में आगे बढ़ा जा सकें | शोधार्थी को 'पूर्वोत्तर प्रभा' के माध्यम से अभिव्यक्ति का मंच मिल सकें इसी उद्देश्य को केंद्र में लेकर इस पत्रिका का प्रस्थान हुआ है |

लम्बे प्रयासों के बाद सिक्किम विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग अपनी विभागीय पत्रिका के स्वप्न को मूर्त कर पाया है | यह हमारे लिए प्रसन्नता का क्षण है | संपादक मंडल के सहयोग से यह कार्य संपन्न हुआ है,मैं संपादक मंडल के सभी सदस्यों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ और भविष्य में भी उनसे निरंतर ऐसे ही सहयोग की अपेक्षा करती हूँ |

पत्रिका के गुण-दोषों की विवेचना अवश्य होनी चाहिए परन्तु प्रेम और स्वीकार के साथ ताकि शोधार्थी अपने प्रयत्नों में हतोत्साहित नहीं बल्कि और बेहतरीन करने का उत्साह उन्हें प्राप्त हों | आप सबसे प्रतिक्रिया की अपेक्षा रखते हैं ताकि आगामी अंकों में आपकी अपेक्षाओं में खड़े उतरने का प्रयत्न हो सकें |

कोरोना काल के इस भयाक्रांत माहौल में मिट्टी का सा साहस और जीवन की अदम्य जिजीविषा का होना आवश्यक है?ऐसे विकट परिस्थिति में संवेदनशीलता और प्रेम रस की धारा निरंतर बहती रहें ताकि विकट परिस्थितियों में मन और तन का संबल बना रहे |
शुभकमानाओं सहित !

संपादक
**चुकी भूटिया**

# पर्यावरण एवं मानवाधिकार के प्रश्न
## हिमालय एवं पूर्वोत्तर क्षेत्र के विशेष सन्दर्भ में

**अभिषेक सौरभ**
शोध-छात्र, भारतीय भाषा केंद्र, जेएनयू,
नई दिल्ली 110067

**शोध-सारांश**
*जहाँ एक ओर भारतवर्ष में विविधता हम पर्यावरण के पैमानों और भौगोलिक संरचनाओं के आधार पर माप सकते हैं, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से भी भारत विविधताओं में एकता का देश है | व्यावहारिक सन्दर्भों में, हम आमतौर पर मानवाधिकार की संकल्पना को पूर्णतया मानव के निजी अधिकारों की संरक्षा एवं हनन से ही जोड़कर देखने के अभ्यस्त हैं जबकि भारत के पूर्वोत्तर-वासी एवं हिमालय के स्थानीय निवासियों के लिए मानव अधिकार की एक कड़ी पर्यावरणीय अधिकारों से भी नाभि-नालबद्ध है | भारतीय हिमालयी क्षेत्र (Indian Himalayan Region) करीब 13 राज्यों एवं केंद्रशासित प्रदेशों जम्मू और कश्मीर, लद्दाख, उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड, सिक्किम, त्रिपुरा, असम के दो जिलों दीमा हसाओ और कार्बी एंगलोंग तथा पश्चिम बंगाल में दार्जिलिंग और कालिम्पोंग क्षेत्रों तक लगभग 2500 किमी की लंबाई और 250 से 300 किमी की चौड़ाई में फैला हुआ है | पर्वतराज हिमालय के आँचल में बसे राज्यों में पर्यावरण संरक्षण की अक्षुण्णता को बरकरार रखने के लिए पर्वतीय प्रदेश के मूल निवासियों ने कभी भी किसी बाहरी शक्ति से पर्यावरण को क्षति पहुँचा सकने वाला समझौता नहीं किया | अपितु जब भी पर्यावरण-संरक्षण पर खतरे का आभास उन्हें हुआ, हिमालय वासियों ने अपनी जान की कीमत पर खेलकर पर्यावरण को किसी भी तरह के नुकसान होने से बचाया | उत्तराखंड के 'चिपको आन्दोलन' को इस सन्दर्भ में बख़ूबी देखा जा सकता है | उस वक़्त अर्थात 1970 के दशक में अविभाजित उत्तरप्रदेश (वर्तमान उत्तराखंड) के पर्वतीय क्षेत्र के किसानों ने कटाई के लिए चिह्नित 'पेड़ों से चिपककर' वन विभाग द्वारा पेड़ों की अव्यावहारिक कटाई के प्रयास का तीव्र विरोध किया था | अपने मूल-कलेवर में 'चिपको आंदोलन' सैकड़ों विकेंद्रित तथा स्थानीय स्वतः स्फूर्त प्रयासों का परिणाम था | दिलचस्प तथ्य यह है कि स्थानीय लोगों ने तब पेड़-पौधों पर अपना पारम्परिक अधिकार जताते हुए, पर्यावरण को अपने जीवन का स्वाभाविक अंग बताया था | यहाँ इस परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण का अधिकार मानव के अधिकारों से सीधी तौर पर जुड़ जा रहा है |*

**बीज-शब्द**
पर्यावरण, मानव अधिकार, संरक्षण, पूर्वोत्तर भारत, चिपको आन्दोलन, परिवेश, भारतीय हिमालयी क्षेत्र।

भारतवर्ष प्राकृतिक एवं भौगोलिक विविधताओं से परिपूर्ण है | संभवतः जलवायविक एवं पर्यावरणीय प्रतिमानों पर जितनी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ, ऋतू-परिवर्त्तन एवं मौसमी दशाएँ भारत में उपलब्ध हैं, उतनी विविधतापूर्ण भौगोलिक सह पर्यावरणीय स्थिति का दर्शन विश्व के किसी अन्य देश में दुर्लभ ही है | भारत की भौगोलिक संरचना में पर्वतीय क्षेत्र, नदी-घटी, मैदानी भागों, मरुस्थलीय परिवेश, महासागरीय, पठारी, द्वीपीय-प्रायद्वीपीय संरचनाओं की एक विस्तृत श्रृंखला का समावेश परिलक्षित होता है | साथ ही; इन विविध भौगोलिक निर्मिति के अनुसार आम भारतीयों की जीवन-शैली का भी प्रभावित होना युक्ति-युक्त है | नदी-घाटियों के नजदीक बसी जनसंख्या जहाँ नदियों की उर्वरा-शक्ति से लाभान्वित होती हैं, वहीं यदा-कदा नदियों के साथ प्रवाहित भीषण बाढ़ों से कुप्रभावित भी हो जाती हैं | ऐसे ही देश के मरुस्थलीय भूभागों में जीवन-यापन एक कठिन श्रम की भांति है | मैदानी भागों में

देश की बहुसंख्य आबादी के बसे होने के पीछे वहाँ जीवन-यापन में सुगमता का होना प्रमुख कारण है | यद्यपि स्थानीय स्तर पर जीवन-यापन से जुड़ी सुविधाएँ एवं परेशानियां कमोबेश हर परिवेश की अपनी-अपनी अलग-अलग होती ही हैं, तथापि पर्वतीय क्षेत्रों में सुविधाओं की तुलना में मुश्किलें ज्यादा दृष्टिगोचर होती हैं | भारत के पूर्वोत्तर-प्रान्तों की अधिकांश भौगोलिक संरचना पार्वत्य कोटि की, अत्यधिक वर्षा-युक्त क्षेत्र, संसाधनविहीन एवं दुष्कर परिवहनीय प्रकार की है | हिमालयी राज्यों के सन्दर्भ में भी जीवन-यापन से सम्बद्ध उपरोक्त दुरुहता प्रासंगिक है | जाहिर है ; जिस खास भौगोलिक क्षेत्र में जीवन-यापन की प्रक्रिया अत्यंत कठिन होगी, वहाँ की संसाधनविहीन बहुसंख्यक आबादी के लिए अपने मानव अधिकारों की सुरक्षा कर पाना एवं उच्च मानवीय गरिमा से युक्त जीवन जी पाना हर हाल में संभव नहीं हो पाता होगा ! हमारे पास पड़ोसी हिमालयी देश नेपाल से आने वाले प्रवासी लोगों, विशेषतया प्रवासी मजदूरों का एक उदहारण है, जिसमें आँकड़े बताते हैं कि अधिकांशतया ऐसे नेपाली मजदूर भारत के विभिन्न शहरों, महानगरों या यहाँ तक कि भारतीय ग्रामों में निजी रूप से चौकीदारी या रखवाली करने या कूली (सामान ढ़ोने का कार्य) का कार्य करते हैं | इसके अलावा हिमाचल प्रदेश एवं उत्तराखंड के सेब बागानों में इन नेपाली प्रवासी मजदूरों की एक अच्छी संख्या कार्य करती है | व्यावहारिक रूप से मजदूर-वर्ग, परम्परागत कामगार-वर्ग, सफाईकर्मी, हाशिये के समाज की स्त्रियों, औद्योगिक कारखाना की मजदूरिनों तथा निहायत ही गरीब आमजनों की ; चाहे वो देश के हों या परदेश के, प्रवासी हों या शरणार्थी, मैदानी भागों के हों या पर्वतीय प्रदेशों के ; थोड़े-कम ज्यादा परिमाणों में इनके मानव अधिकारों का हनन बहुत आम बात है | वास्तव में, देखा जाये तो समाज के अंतिम पायदान पर अवस्थित व्यक्ति की मानवीय गरिमा का जिस दिन लोप नहीं होगा, मानव समुदाय उस दिन वास्तविक तरक्की के शिखर पर विराजमान होगा |

मानव अधिकारों के संरक्षण एवं उल्लंघन से जुड़ी हुई एक कटु सच्चाई यह है कि आमतौर पर किसी भी समाज में निचले पायदानों पर कार्यरत या असंगठित आर्थिक क्षेत्रों में कार्यरत मानव समूहों के मानवीय हित सबसे अधिक प्रभावित होते हैं | कभी-कभी विपरीत पर्यावरणीय दशाओं के कारण बेहतर मानवीय सुविधाओं एवं स्थिर जीवन की तलाश में कई पूर्वोत्तर प्रान्तों एवं हिमालयी क्षेत्रों से प्रमुख भारतीय महानगरों, शहरों, औद्योगिक नगरियों एवं राजधानियों की तरफ पलायन करने वाली एक बहुसंख्यक आबादी कतिपय मामलों में अपने मानव अधिकारों के उल्लंघन का दंश झेलने को अभिशप्त हो जाती हैं | भारतीय संविधान जहाँ एक ओर मानव-मात्र एवं समस्त भारतीय नागरिकों की समानता एवं उनके मानवाधिकारों के संरक्षण का सन्देश देती है, वहीं देश की राजधानी दिल्ली में ही कई बार पूर्वोत्तर भारत के लोगों के प्रति नस्लीय टीका-टिपण्णी या छींटाकशी के अमानवीय दृष्टान्त बुरे सपने की मानिंद उभर कर पटल पर आ विराजती है | अन्य हिमालयी क्षेत्रों से आने वाले लोगों को भी कद-काठी एवं रूप-रंग के आधार पर सामाजिक भेदभाव या अवांछित टीका-टिपण्णी का सामना करना पड़ता है | पूर्वोत्तर भारत एवं पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों के प्रति नस्लीय आधार पर होने वाला यह दुर्व्यवहार देश के अन्य हिस्सों में भी व्याप्त है और यह हमारे लिए सामाजिक शर्म के समान है | देश के दूरस्थ पर्वतीय क्षेत्रों से बेहतर जीवन-यापन एवं रोजगार की खोज में महानगरों की शरण में आये पूर्वोत्तर भारत और हिमालयी राज्यों के ये भारतवासी बहुधा असंगठित या फूटकल क्षेत्रों में ही कार्य करते हुए पाये जाते हैं | व्यापार करने के लिए अच्छी पूँजी के अभाव में ये ठेले-खोंमचे वाले या फूटकर रेहड़ी वाले बनकर महानगरों में गुजारा करते हैं | जाहिर है कि अपने मूलस्थान से पलायन करने के बावजूद भी इनकी मानवीय सह आर्थिक दशा में अपेक्षित बदलाव संभव नहीं हो पाता है |

**भारत के पूर्वोत्तर-वासी एवं हिमालय के स्थानीय निवासियों के लिए मानव अधिकार की एक कड़ी पर्यावरणीय अधिकारों से भी नाभि-नालबद्ध है।**

जहाँ एक ओर भारतवर्ष में विविधता हम पर्यावरण के पैमानों और भौगोलिक संरचनाओं के आधार पर माप सकते हैं, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से भी भारत विविधताओं में एकता का देश है | व्यावहारिक सन्दर्भों में, हम आमतौर पर मानवाधिकार की संकल्पना को पूर्णतया मानव के निजी अधिकारों की संरक्षा एवं हनन से ही जोड़कर देखने के अभ्यस्त हैं जबकि भारत के पूर्वोत्तर-वासी एवं हिमालय के स्थानीय निवासियों के लिए मानव अधिकार की एक कड़ी पर्यावरणीय अधिकारों से भी नाभि-नालबद्ध है | पर्वतराज हिमालय के आँचल में बसे राज्यों में पर्यावरण संरक्षण की अक्षुण्णता को बरकरार रखने के लिए पर्वतीय प्रदेश के मूल निवासियों ने कभी भी किसी बाहरी शक्ति से पर्यावरण को क्षति पहुँचा सकने वाला समझौता नहीं किया | अपितु जब भी पर्यावरण-संरक्षण पर खतरे का आभास उन्हें हुआ, हिमालय वासियों ने अपनी जान की कीमत पर खेलकर पर्यावरण को किसी भी तरह के नुकसान होने से बचाया | उत्तराखंड के 'चिपको आन्दोलन' को इस सन्दर्भ में बख़ूबी देखा जा सकता है | उस वक़्त अर्थात 1970 के दशक में अविभाजित उत्तरप्रदेश (वर्तमान उत्तराखंड) के पर्वतीय क्षेत्र

के किसानों ने वन विभाग द्वारा पेड़ों की अव्यावहारिक कटाई का तीव्र विरोध किया था | 26 मार्च, 1974 को पेड़ों की कटाई रोकने के लिए 'चिपको आंदोलन' शुरू हुआ | उस साल जब वर्तमान उत्तराखंड के चमोली जिले में रैंणी गाँव के जंगल के लगभग ढाई हज़ार पेड़ों को काटने की नीलामी हुई, तो गौरा देवी नामक महिला ने अन्य महिलाओं के साथ इस नीलामी का विरोध किया | इसके बावजूद सरकार और ठेकेदार के निर्णय में बदलाव नहीं आ पाया | जब ठेकेदार के आदमी पेड़ काटने पहुँचे, तो गौरा देवी और उनकी 21 साथियों ने उन लोगों को अपने स्तर पर समझाने की अंतहीन कोशिश की | जब उन्होंने पेड़ काटने की जिद किसी भी सुरत में नहीं त्यागी तो महिलाओं के समूह ने पेड़ों से चिपक कर उन्हें ललकारा कि पहले हमें काटो फिर इन पेड़ों को भी काट लेना | अंततः ठेकेदार को बिना वृक्षों की कटाई के वापस जाना पड़ा | बाद में स्थानीय वन विभाग के अधिकारियों के सामने इन महिलाओं ने अपनी बात पुनः रखी | फलस्वरूप रैंणी गाँव का जंगल नहीं काटा गया | इस प्रकार यहीं से चिपको आंदोलन की शुरुआत हुई | सबसे दिलचस्प बात यह है कि स्थानीय लोगों ने तब पेड़-पौधों पर अपना पारम्परिक अधिकार जताते हुए, पर्यावरण को अपने जीवन का स्वाभाविक अंग बताया था | यहाँ इस परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण का अधिकार मानव के अधिकारों से सीधी तौर पर जुड़ जा रहा है | अपने मूल-कलेवर में 'चिपको आंदोलन' सैकड़ों विकेंद्रित तथा स्थानीय स्वतः स्फूर्त प्रयासों का परिणाम था | इस आंदोलन के पथ-प्रदर्शक एवं कर्त्ता-धर्त्ता सुन्दर लाल बहुगुणा और मुख्यतः ग्रामीण महिलाएँ थीं, जो अपने जीवनयापन के साधन व पर्वतीय समुदाय को बचाने के लिए तत्पर थीं | पर्यावरणीय विनाश के ख़िलाफ़ शांतिपूर्ण अहिंसक विरोध प्रदर्शन इस आंदोलन की अद्वितीय विशेषता रही |

**पर्यावरण का अधिकार मानव के अधिकारों से सीधी तौर पर जुड़ जा रहा है। अपने मूल-कलेवर में 'चिपको आंदोलन' सैकड़ों विकेंद्रित तथा स्थानीय स्वतः स्फूर्त प्रयासों का परिणाम था | इस आंदोलन के पथ-प्रदर्शक एवं कर्त्ता-धर्त्ता सुन्दर लाल बहुगुणा और मुख्यतः ग्रामीण महिलाएँ थीं, जो अपने जीवनयापन के साधन व पर्वतीय समुदाय को बचाने के लिए तत्पर थीं। पर्यावरणीय विनाश के ख़िलाफ़ शांतिपूर्ण अहिंसक विरोध प्रदर्शन इस आंदोलन की अद्वितीय विशेषता रही।**

हम देखते हैं कि कई हिमालयी प्रदेशों के भिन्न-भिन्न हिस्सों में आज भी लोग बुनियादी जरूरतों से वंचित हैं और आधारभूत मानव अधिकारों की बहाली के लिए गुहार लगा रहे हैं | नवम्बर, 2015 में एक दैनिक अख़बार-पत्र में छपी एक ख़बर के अनुसार, "उच्च हिमालयी क्षेत्र नामिक के लोगों ने राज्य मानवाधिकार आयोग के सामने आधारभूत मानव अधिकारों की बहाली करने से संबंधित प्रार्थना पत्र आयोग के अध्यक्ष को दिया | कहा है कि सड़क मार्ग से 27 किमी की दूरी पर नामिक और हीरामणि ग्लेशियर की तलहटी में बसे नामिक गांव सड़क से वंचित है | संचार सुविधा के नाम पर अक्सर खराब रहने वाला एक सेटेलाइट फोन मात्र है |" यह नामिक गाँव उत्तराखंड राज्य के अंतर्गत् प्रशासित है | गौरतलब है कि आज भी हिमालयी एवं पूर्वोत्तर के कई राज्यों में ऐसे अन्य मुद्दे बहुत आसानी से मिल जायेंगे, जिनमें कि आम लोगों के मानव अधिकार प्रभावित हो रहे हैं |

जब हम हिमालयी क्षेत्र की भौगोलिक एवं राजनीतिक-प्रशासनिक सीमाओं को खँगालते हैं, तब भारतीय शीर्ष सलाहकारी निकायों में से एक 'नीति आयोग' द्वारा भारतीय हिमालयी क्षेत्र (Indian Himalayan Region) के निर्धारण को समीचीन पाते हैं| भारतीय गणराज्य के अंतर्गत हिमालयी क्षेत्र-निर्धारण की महती आवश्यकता इसलिए भी है ताकि उन क्षेत्रों की जाँच-पड़ताल कर, मूलभूत सुविधाओं एवं परिवहनीय संसाधनों से वंचित क्षेत्रों को चिन्हित कर उनका समुचित एवं केन्द्रित विकास किया जा सके | इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर उनके आधारभूत मानव अधिकारों की बहाली संभव की जा सके | नीति आयोग के अनुसार, "भारतीय हिमालयी क्षेत्र (Indian Himalayan Region) करीब 13 राज्यों एवं केंद्रशासित प्रदेशों जम्मू और कश्मीर, लद्दाख, उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड, सिक्किम, त्रिपुरा, असम के दो जिलों दीमा हसाओ और कार्बी एंगलोंग तथा पश्चिम बंगाल में दार्जिलिंग और कालिम्पोंग क्षेत्रों तक लगभग 2500 किमी की लंबाई और 250 से 300 किमी की चौड़ाई में फैला हुआ है | अकेले भारतीय हिमालयी क्षेत्र (Indian Himalayan Region) में लगभग पचास मिलियन लोग स्थायी तौर पर निवास करते हैं | भारतीय लोकतांत्रिक गणराज्य के अंतर्गत् आने वाले हिमालयी क्षेत्र विविध जनसांख्यिकीय, आर्थिक, पर्यावरणीय, सामाजिक और राजनीतिक प्रणालियों द्वारा

अभिलक्षित है | 2017 में, भारत सरकार की सलाहकार थिंक टैंक निकाय 'नीति आयोग' द्वारा विषयगत क्षेत्रों में से प्रत्येक पर एक रिपोर्ट तैयार करने के लिए भारतीय हिमालयी क्षेत्र (आईएचआर) के पर्वतों में संधारणीय विकास के लिए समूहों के संयोजक के रूप में नेतृत्वकारी संस्थानों के साथ पाँच कार्यदलों का गठन किया गया है | इन विषयगत कार्य समूहों में- 'जल सुरक्षा के लिए हिमालय में झरनों की संख्या और पुनरुद्धार, भारतीय हिमालयी क्षेत्र में संधारणीय पर्यटन, स्थानान्तरण कृषि : परिवर्तनशील दृष्टिकोण की ओर, हिमालय में कौशल और उद्यमिता (ई एंड एस) परिदृश्य को सुदृढ़ करना, सूविचारित निर्णय लेने के लिए डेटा / सूचना' शामिल हैं | ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उपरोक्त पांच विषयगत कार्य समूह रिपोर्टों की सिफारिशों के आधार पर 9 नवंबर, 2018 को नीति आयोग ने भारतीय हिमालयी क्षेत्र में संधारणीय विकास के लिए 'हिमालयी राज्य क्षेत्रीय परिषद' का गठन किया है | आशा की जा सकती है, सरकारी स्तर पर किये जा रहे इन महत्वपूर्ण कवायदों से हिमालयी एवं पूर्वोत्तर भारत के आम जन-जीवन में अपेक्षित सकारात्मक बदलाव आ पायेंगे, जिसकी बदौलत इन क्षेत्रों में निवास कर रही विशाल जनसंख्या के जीवन-यापन के स्तर में भी मूलभूत परिवर्तन आ सकेगी और उनके आधारभूत मानव अधिकारों की प्रतिपूर्ति होने के साथ-साथ गरिमामय जीवन जीने के उनके मूल अधिकारों की रक्षा हो पायेगी |

यद्यपि, इस आलेख में पर्यावरण के सन्दर्भ में आम मानव के मानवाधिकारों को हम सिर्फ हिमालयी राज्यों या पूर्वोत्तर के क्षेत्रों तक ही सीमित रख कर देख रहे हैं, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि स्वच्छ एवं स्वस्थ पर्यावरण तो प्राणिमात्र का हक़ है | स्वच्छ पर्यावरण, मनुष्य के स्वस्थ रह सकने के लिए अपरिहार्य है | प्रत्येक मनुष्य प्राणदायिनी स्वच्छ वायु का सेवन पर्यावरण से ही कर पाता है और बिना ऑक्सीजन के तो मानव सभ्यता एक पग कदम आगे नहीं बढ़ा सकती है | निस्संदेह स्वच्छ पर्यावरण के तत्त्व जैसे शुद्ध प्राणवायु, शुद्ध जल हमें जीवन प्रदान करते हैं और जीवन का अधिकार तो मानव मात्र का सबसे अव्वल और बुनियादी अधिकार है | अभी बीते वर्ष 2018-19 के आँकड़ों के अनुसार ही देखें तो विश्व के कई महानगरों में पिछले साल वायु प्रदुषण का स्तर इतना ख़तरनाक हो गया था कि हवाओं में जहर सा घुल चुका था | भारत में भी गाजियाबाद, दिल्ली, नोएडा, धनबाद, गुड़गाँव, पटना, चेन्नई, अम्बाला आदि शहरों में लोग अत्यधिक वायु प्रदुषण एवं हवाओं में PM 2.5 कणों के घुले होने के कारण घरों से बाहर नहीं निकल पा रहे थे | लेकिन यह भी एक सच है कि पृथ्वी पर पर्यावरण-प्रदुषण से जुड़े ये संकट हमेशा से विद्यमान नहीं थे और यदि अब भी मानव-समुदाय जागरूक होकर जिम्मेदारीपूर्वक प्रयत्न करें तो हरेक प्रकार के पर्यावरण प्रदुषण से सफलतापूर्वक निबटा जा सकता है |

परम्परागत रूप से भारतीय समाज में आस्था और विश्वास का विशेष स्थान रहा है और इस आस्था के केंद्र का एक बिंदु देवी-देवताओं की पूजा से अलग प्राकृतिक संसाधनों जैसे पेड़-पौधों, जन्तुओं, नदियों आदि को भी पूजनीय मानकर चलायमान रहा है | पादपों में पीपल, आंवला, तुलसी, वटवृक्ष आदि, जन्तुओं में गाय, बैल, मयूर, हिरण, शावक आदि तथा नदियों में गंगा, यमुना, कृष्णा, कावेरी, ब्रह्मापुत्र, गोदावरी इत्यादि को मानवीय श्रद्धा का सान्निध्य अनवरत मिलता रहा है | इस प्रकार हमारी सांस्कृतिक परम्परा में पर्यावरण-संरक्षण की भावना पहले से निहित जरुर रही है | प्राचीन काल में भारत में प्रकृति को किसी भी प्रकार की क्षति जान-बूझकर नहीं पहुँचाई जाती थी, यहाँ तक कि संध्या ढ़लने के बाद वृक्षों से पत्तियों तक को भी नहीं तोड़े जाने की मान्यता थी, इसलिये तब पर्यावरण संरक्षण के लिये किसी विशेष कानून की आवश्यकता नहीं थी | लेकिन आधुनिक काल में औद्योगिक क्रांति, मशीनीकरण एवं तकनीकों के सहारे अन्धाधुन्ध विकास के नाम पर पेड़-पौधों की बेतहाशा कटाई होने, कारखानों के कचरों से नदियों एवं जल-स्रोतों का संकरा होकर सूखते चले जाने तथा जानवरों-पक्षियों के प्राकृतिक निवास के लगातार नष्ट होकर उनके अस्तित्व के समक्ष संकट उत्पन्न हो जाने से मानव-जाति के समक्ष जल-प्रदुषण, वायु-प्रदुषण, ध्वनि-प्रदुषण आदि का गंभीर संकट उत्पन्न हो गया है, जिसके फलस्वरूप पिछली सदी से पर्यावरण के संरक्षण के लिये बड़ी संख्या में कानून बनाए जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है | इन्हीं कारणों से पिछले सौ वर्षों के दौरान राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण संरक्षण से सम्बंधित कई कानून बनाये गये हैं | स्वाधीनता प्राप्ति के आलोक में, बीसवीं सदी के मध्य-वर्षों में रचित भारत के संविधान में भी कुछ इस तरह के प्रावधान किये गये हैं, जिससे पर्यावरण का अधिकार मानव अधिकारों की अनुषंगी इकाई के रूप में परिभाषित होता है | भारतीय उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश एवं राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के पूर्व अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री रंगनाथ मिश्र के अनुसार, "प्रदूषण और भूमंडलीय समस्याएँ संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत आती हैं | यदि यह सत्य है तो पर्यावरण का मामला स्पष्ट रुप से मानवाधिकार में आता है |" ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इसी आधार पर राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने पश्चिम बंगाल में आर्सेनिक से पानी के प्रदूषित होने के प्रकरण में सकारात्मक हस्तक्षेप भी किया था |

नृजातीय आकलनों के आधार पर गौर करें तो पूर्वोत्तर भारतीय राज्यों की अधिकांश आबादी भारतीय संविधान के अंतर्गत् अधिसूचित अनुसूचित जनजातियों की है | हिमालयी राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड आदि की जनसंख्या में भी एक बड़ी हिस्सेदारी अनुसूचित जनजातियों की है | सबसे दिलचस्प बात यह है कि अनुसूचित जनजातियाँ अपनी धार्मिक प्रवृत्ति में मुख्य रूप से

प्रकृतिपूजक हैं | जब हम अनुसूचित जनजातियों की पूजा-पद्धति पर गौर करते हैं तब पाते हैं कि उनके देवी-देवता या पूज्य बहुतायत में पहाड़, पेड़-पौधे, सूर्य, चंद्रमा, जल-स्रोत, धार्मिक रूप से संरक्षित लघु वन, पक्षी या पत्थर होते हैं | उदहारण के लिए, अरुणाचल प्रदेश की कुल आबादी की 27 प्रतिशत जनसंख्या सूरज और चाँद (डोनी-पोलो) की पूजा करते हैं | इसके अतिरिक्त यहाँ की एक बड़ी जनजातीय आबादी जिसने कालांतर में हिन्दू जीवन-पद्धति या ईसाइयत अपना ली, उनमें से अधिकांश अभी भी अपने मूल कलेवर में प्रकृति-पूजक ही हैं | यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतवर्ष के अधिकांश भागों में चाहे वो उत्तर भारत के क्षेत्र हों या दक्षिण भारत के भूभाग हों, एक बहुत बड़ी आबादी इन समूचे परिवेशों की निवासी अपने विभिन्न लोक-पर्वों एवं त्योहारों में नदियों, भूमियों, सूरज, चाँद आदि के हवाले से प्रकृति की पूजा-आराधना करती हैं और अनिवार्यत: किसी-न-किसी रूप में उनके जीवनदायिनी शक्तियों के प्रति आभार व्यक्त करती हैं | निरपेक्ष भाव से आज भी आदिम जनजातियों या अनुसूचित जनजातियों की आधी से अधिक आबादी की जीवन-शैली विश्वभर में प्रकृति के सान्निध्य में गुजारा करने की ही है, प्रकृति के दोहन की बजाय प्रकृति से उतना ही ग्रहण करने की है जितने में उनकी आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो जाये और प्रकृति भी सतत रूप से संरक्षित रहे | भारत के वर्तमान उप-राष्ट्रपति एम. वेंकैया नायडू ने एक अवसर पर पर्यावरण के सतत संरक्षण के साथ विकास की अवधारणा को बल देने के लिए जनजातीय समुदायों से सीखने की अपील की है | राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग की स्थापना दिवस के अवसर पर वर्ष 2019 की 19 फ़रवरी को माननीय उपराष्ट्रपति महोदय ने अपने संबोधन में कहा, “आज जब हम प्रकृति सम्मत स्थाई विकास के रास्ते खोज रहे हैं, ये समुदाय हमें पर्यावरण सम्मत विकास के कई गुर सिखा सकते हैं | ...मुझे प्रयाग कुम्भ के अवसर पर किवा कुम्भ में सम्मिलित होने का अवसर मिला | विश्व के लगभग पचास देशों के जनजातीय समुदाय के नेताओं से पर्यावरण एवं प्रकृति सम्मत विकास पद्धति पर विमर्श करने का अवसर मिला | मुझे ज्ञात हुआ कि किस प्रकार से विश्व भर के जनजातीय समुदाय, प्राकृतिक संसाधनों को बचाने के लिए तत्पर हैं | किस प्रकार हमारे प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर आधारित आर्थिक चिंतन के विकल्प के रूप में उनके पारम्परिक विकास की पद्धति, उनकी प्राकृतिक तकनीकें प्रकृति सम्मत हैं |” हिंदी के वरिष्ठ कवि लीलाधर मंडलोई रचित एक कविता में, एक पहाड़ी माँ जिसकी सारी उम्र पर्यावरण के बहुत समीप रहते हुए गुजरी है, शहर जाकर बसने वाले अपने बेटे को प्रकृति की ममतामयी सौगात भेंट करने के लहजे में कहती हैं,“माँ कहती हैं चल नहीं सकती अब थोड़ा भी / जा बेटा, ले जा थोड़ी-सी चांदनी / मेरे हिस्से की हवा, बादल, हँसी और धीरज कि / लौट सके कुछ तो मेरे पहाड़ में / झरे हुए पत्तों का हरा समय / बाँसुरी लायक बाँस के झुरमुट( मगर एक आवाज़)”| एक माँ जननी होती है जो जन्म देती है और एक माँ प्रकृति भी होती है, जो प्राणिमात्र के पालन-पोषण के लिए आवश्यक पञ्च-तत्वों को प्रदान करती हुई जीवन के अधिकार से सुशोभित करती है | इसलिए पर्यावरण का अधिकार और मानव अधिकार सहोदर माता एवं संतान के संबंधों की भांति एक दूसरे से नाभि-नालबद्ध हैं |

**सन्दर्भ सूची :**

**अंतर्जालीय सन्दर्भ :**


1. चिपको आन्दोलन, साभार- Wikkipedia, वेब लिंक- https://en.wikipedia.org/wiki/Chipkomovement
2. अमर उजाला (दैनिक अख़बार), पिथौरागढ़, 18 नवम्बर, 2015,वेबलिंक- https://www.amarujala.com/uttarakhand/pithoragarh/human-rights-commission-chairman-justiceuttarakhand-hindi-news
3. मिश्र, आर.सी., पर्यावरण के लिये कानूनी संरक्षण (Legal protection for environment) (आलेख) ; वेब लिंक- https://hindi.indiawaterportal.org/content/parayaavarana-kae-laiyae-kaanauunai-sanrakasana-legal-protection-environment/content-type-page/55761
4. जनजातीय समुदायों से सीखे पर्यावरण सम्मत विकास: उपराष्ट्रपति ; साभार- प्रेस इनफार्मेशन ब्यूरो, नई दिल्ली, वेब लिंक https://pib.gov.in/PressReleaseIframePage.aspx?PRID=1565165
5. मंडलोई, लीलाधर, मेरी उम्र बयालिस के आगे की परछाईं है (कविता-शीर्षक) ; वेब लिंक- http://kavitakosh.org/

# जीवन की खुली पाठशाला को पढ़ाता 'एक था ठुनठुनिया'

**प्रीति प्रसाद**
शोधार्थी, सिक्किम विश्वविद्यालय

---

**सारांश:**

*प्रकाश मनु ने अपने 'एक था ठुनठुनिया' उपन्यास में बालमन के सहज, सरल एवं जिज्ञासु प्रवृत्ति का चित्रण किया है। उपन्यास का बाल पात्र ठुनठुनिया बड़े आसान तरीकों से अपनी समस्याओं का समाधान कर लेता है। इसके साथ ही उसे आशु-कविता करना, बाँसुरी बजाना, मिटटी के खिलौने बनाना और कठपुतली नाच बहुत पसंद है। वह भालू बनकर जहाँ गाँववालों को डराता है वहीं भालू नाच कर सब का मनोरंजन भी करता है। ठुनठुनिया अपनी माँ के साथ अपने दोस्तों एवं रग्घू चाचा और मानिकलाल से बहुत प्रेम करता है। यही कारण है कि जब उसके जीवन में बदलाव आता है तो वह अपने करीबी सभी लोगों को साथ लेकर आगे बढ़ने की सफल कोशिश करता है। उपन्यास में पर्यावरण, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, आतंकवाद और अस्मिता संबंधी कई समस्याओं का उल्लेख हुआ है। ठुनठुनिया अपने बाल सुलभ चेतना द्वारा आसानी से इन सबका निवारण कर लेता है। क्योंकि वह जिंदगी के अनुभवों को किताबी ज्ञान से अधिक महत्त्व देता है। पात्र के चरित्र विकास में कहीं भी कृत्रिमता का एहसास नहीं होता है। बाल पात्र के माध्यम से मनु जी ने पाठकों में बाल-चेतना के साथ-साथ मानवीय चेतना को विकसित करने का उपक्रम किया है। जिससे की वे मामले की गंभीरता को भी समझ ले और उनके होंठों की मुस्कान भी बनी रहे।*

**बीज शब्द:** *बालमन, जिंदादिल बालक, ग्रामीण-बोध, तुकबंदियाँ, बालमनोविज्ञान, प्रतिकृति, सामूहिकता की भावना, सामासिकता, संवाद, ललित कला*

---

'एक था ठुनठुनिया' बाल साहित्यकार प्रकाश मनु द्वारा रचित एकल चरित्र प्रधान बाल उपन्यास है। सन् 2006 में प्रकाशित इस बाल उपन्यास को 2010 में साहित्य अकादमी के प्रथम बाल साहित्य पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। पूरा उपन्यास ठुनठुनिया नामक पात्र के आसपास संरचित है। सभी गौण पात्र मुख्य पात्र के इर्दगिर्द घूमते हैं। यह पात्र पूरे उपन्यास में अपनी चारित्रिक विशेषताओं और अपने संवादों की सहजता, मुखरता एवं अपने व्यंग्य शैली के कारण आद्योपांत बना रहता है।

सामाजिक रूप से पात्र का विश्लेषण करें तो पाएँगे कि वह निम्न वर्गीय पात्र है। अपनी माँ का एकमात्र सहारा जिसके पिता नहीं है। बचपन से ही ठुनठुनिया की माँ को उससे कई उम्मीदें है। साथ ही माँ ठुनठुनिया में अपने पति को देखने की अभ्यस्त हो चुकी है तथा आशा लगाए बैठी है कि "वह तुम्हारा और मेरा नाम ऊँचा करेगा।"[1] ठुनठुनिया अपने सेवाभाव और सहयोगी प्रवृत्ति के कारण सबका प्रिय है। परंतु पढ़ाई-लिखाई में उसका मन नहीं लगता। विभिन्न ललित कलाओं में रूचि होने के कारण वह उन्हें सीखता है। उपन्यास के मध्य में विद्यालयी शिक्षा पूरा करने की इच्छा बस यूँही ठुनठुनिया के ह्रदय में नहीं कौंधती है। इसके पीछे चरित्र के विकसित होने की एक पूरी कहानी छिपी है।

उपन्यास पढ़ते हुए देखते है कि ठुनठुनिया ने कम समय में कठपुतली नाच की बारीकियों को सीख लिया है और अपनी कला से धन अर्जन करने लगता है। इस परिस्थिति में भी वह अपनी माँ को नहीं भूलता। माँ को चिठ्ठी न लिख पाने और उनसे न मिल पाने का गम उसे सदा बना रहता है। इस पर जब उसे अपने शिक्षक अयोध्या बाबू से माँ की बिगड़ी हुई तबियत की खबर मिलती है तो वह सब कुछ छोड़कर माँ के पास चला आता है। माँ की बिगड़ी

सेहत का उत्तरदायी स्वयं को मानते हुए ठुनठुनिया माँ के सपनों को पूरा करने का प्रण लेता है। वह कहता है- "माँ, तेरा सपना था कि मैं खूब पढ़ूँ-लिखूँ...पढ़-लिखकर कुछ बनूँ! मैं वादा करता हूँ कि अब मैं खूब दिल लगाकर पढ़ूँगा। तेरी याद हर रोज आती थी माँ, पर मैं सोचता था, खूब पैसा कमाकर ले जाऊँ, ताकि तेरे कष्ट मिट जाएँ।"[2] ध्यातव्य हो कि वह अपनी माँ को खुश देखना चाहता है जिसके लिए उसने पैसे कमाने का रास्ता चुना। अंततः वह पाता है कि जिसको खुश करने के लिए वह इतनी दूर आया है वह तो उसके वियोग में बीमार पड़ी हुई है। जीवन के इस कटु सत्य ने उस बालमन को व्यस्क बना दिया। जिसने ठुनठुनिया के जीवन को एक नई दिशा प्रदान की।

जीवन में आए इस बदलाव ने ठुनठुनिया को एक सफल व्यक्ति बनने का रास्ता सुझाया। अपनी सफलताओं में वह अपने मित्रों को भी साझेदार बनाता है। खिलौने बनाने वाले रग्घू चाचा हो या फिर कठपुतली नाच का साथी मानिकलाल या फिर बचनपन के दोस्त गंगू, मनमोहन, सुबोध और मीतू सभी के साथ मिलकर वह लोक-कलाओं की 'भारतीय कला परंपरा' नामक संस्था का बखूबी संचालन करने लगता है।

उपन्यास का बाल पात्र ठुनठुनिया हँसोड़, साहसी, जिंदादिल और ग्रामीण-बोध से संपन्न बालक है। उपन्यास के विकास के साथ उसके व्यक्तित्व के कई और भी पहलू हमारे सामने उभरते है। ठुनठुनिया के चरित्र के संबंध में उपन्यासकार लिखते है कि- "वह बड़ा खुशमिजाज, हरफनमौला और हाजिर जवाब है। इसीलिए बड़ी से बड़ी मुश्किलों के बीच रास्ता निकाल लेता है।"[3] ठुनठुनिया एक बहादुर, आशु-कवि, पशुप्रेमी, जिज्ञासु, वाक्यपटु और कलाप्रेमी पात्र है। उपन्यास के आरंभ में ठुनठुनिया बड़े साहस के साथ गजराज सिंह को हाथी बाबू का नाम देता है। मनपसंद मालपूए का नाम याद रखने के लिए झट से तुकबंदियाँ बना डालता है। आगे भी भालू बनकर अपने कारनामे दिखाने के क्रम में वह बहुत सुंदर गीत गाता है। उसकी कविताई का एक नमूना है- "भालू रे भालू/ अम्माँ, मैं तेरा भालू!/ अभी-अभी चलकर जंगल से आया भालू/ ला खिला दे, ला खिला दे, दो-चार आलू!/ अम्माँ, मैं नहीं टालू/ अम्माँ, मैं नहीं कालू/ अम्माँ, मैं तेरा भालू...।"[4]

ठुनठुनिया को कोई भी परिस्थिति, कोई भी घटना या वस्तु आकर्षित करती है तो वह उसे संजोने का प्रयास करता है। संजोने का जरिया यह है कि वह उन्हें याद रखने की कोशिश करता है। वह उन्हें तुरंत गीत, कविताई, तुकबंदियों में परिवर्तित कर लेता है। ठुनठुनिया द्वारा कही गई पंक्तियाँ सिर्फ कविताई नहीं है बल्कि लेखक तुकबंदी और पात्र दोनों के माध्यम से कुछ संकेत करते है। उपन्यास की घटनाओं को देखे तो पाते है कि ठुनठुनिया का दिल सफ़ेद कागज की तरह है। चाहे वह जमींदार गजराज सिंह का प्रसंग हो या फिर स्कूल में दाखिला लेते समय चूहा पकड़ने की घटना हो। जो भी ठुनठुनिया के मन में है उसे वह कह देता है। यह उसकी सादगी है। कहीं न कहीं यही सादगी उपन्यासकार अपनी युवा पीढ़ी में संचारित करना चाह रहे है । यह सादगी तभी संचालित होगी जब यह न सिर्फ बच्चों में हो बल्कि उनके परिवार के लोगों में भी हो। ठुनठुनिया में यह सादगी उसकी माँ से आई है। उसकी माँ उससे कभी झूठ नहीं बोलती है। वह ठुनठुनिया के चरित्र को गढ़ने का प्रयास नहीं करती बल्कि अपने व्यवहार से उसे स्वयं ही निर्मित होने देती है। ठुनठुनिया की माँ न चाहते हुए भी सिर्फ उसकी ख़ुशी के लिए, उसे कठपुतली नाच सीखने के लिए, खुद से दूर जाने देती है। बाल मनोविज्ञान के संदर्भ में खलील जिब्राल का हवाला देते हुए ओमप्रकाश कश्यप अपने एक लेख (हिंदी बालसाहित्य: परंपरा एवं आधुनिक संदर्भ) में लिखते है- "तुम उन्हें अपना प्यार दे सकते हो, लेकिन विचार नहीं क्योंकि उनके पास अपने विचार होते हैं।"[5] माँ उसे हमेशा एक सकारात्मक माहौल देती है। कहीं न कहीं उपन्यासकार संकेत देते है कि बच्चों के पालन-पोषण की विधि क्या होनी चाहिए। उनसे संवाद स्थापित करने की शैली क्या हो सकती है।

यह बाल उपन्यास सामाजिक तंत्र के विभिन्न परतों की वास्तविकता को सामने लाता है। एक सजग लेखक के रूप में उपन्यासकार यह काम अपने पात्र के माध्यम से इतने हास्य और व्यंग्य के साथ करते हैं कि पाठक उसमें रम जाता है। पाठक को एहसास नहीं होता है कि ठुनठुनिया प्रतिघात कर रहा है। वह पूरे तंत्र पर सवालिया निशान लगा रहा है। उपन्यास में जंगल कटाई जैसे गंभीर मसले को कितनी ही सहजता से उठाया गया है। पेड़ कटाई की दुर्नीति को सामने लाकर ठुनठुनिया इसका क्रेडिट स्वयं नहीं लेता है। बल्कि इसका क्रेडिट वह एक मासूम गिलहरी को देता है। दूसरी ओर राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था पर सवाल किया गया है। नौका-यात्रा करते हुए ठुनठुनिया और उसके मित्रों को रहस्यमय गुफा के गुप्त रहस्य का पता चलता है। इसकी जानकारी जब वे पुलिस को देना चाहते है तो उनके मन में संदेह है कि पुलिस हम बच्चों की बातों पर विश्वास करेगी भी या नहीं। इसलिए ठुनठुनिया अपने मित्रों के साथ मिलकर जमींदार गजराज बाबू के पास जाने का विकल्प अपनाता है और कहता है- "वे हमारे साथ चलेंगे तो पुलिस भी कुछ-न-कुछ जरुर करेगी।"[6] आस-पास के माहौल से प्रभावित बालमन जान चुका है कि व्यवस्था भी शक्ति-संपन्न लोगों की ही बात सुनता है। उपन्यास में धूर्त व्यापारी चमनलाल के द्वारा व्यापारिक तंत्र के खोखलेपन और मुखिया बुलाकीराम के माध्यम से व्यवस्था की घटती शाख को अभिव्यक्त किया गया है।

उपन्यास में पेड़ कटाई के माध्यम से पर्यावरण समस्या, धूर्त व्यापारी के माध्यम से भ्रष्टाचार की समस्या और ठुनठुनिया के नाम के माध्यम से विगत तीन-चार दशकों से

चल रही अस्मिता की समस्या को रेखांकित किया गया है। 'मैं' कौन हूँ? मेरा नाम क्या है? मेरा नाम क्या होगा या होना चाहिए? आदि अस्मितामूलक विमर्शों को उपन्यास सामने लाता है। अपने पात्रों के द्वारा यह प्रमाणित करता है कि अंततः किसी और का प्रतिरूप बनना कितना खोखला होता है। हरिश्चंद्र नाम रख लेने भर से कोई सत्यवादी नहीं बन जाता। भिखारी का नाम अशर्फीलाल होने से जरुरी नहीं कि वह अशर्फीयुक्त हो। ठीक उसी प्रकार जैसे उपन्यास में सेठ का नाम छदमिलाला है। नाम से ध्वनित होता है कि यह किसी गरीब का नाम है पर वह एक धनी सेठ है। लेखक इन प्रसंगों के माध्यम से छद्म व्यवस्था में निहित दोहरे चरित्र को समाने लाते हैं। जो मूलतः नाम से कुछ और एवं काम में कुछ और के दुराग्रह पर अवलंबित होते हैं। इसके प्रतिपक्ष स्वरुप वे ठुनठुनिया के नाम का सफल प्रयोग करते हैं।

उपन्यास में प्रकाश मनु ने ठुनठुनिया का चारित्रिक विकास आदर्श पात्र के अनुरूप किया है। ध्यान देने की बात है कि यह आदर्श प्रेमचंदयुगीन आदर्श नहीं है जहाँ अचानक हृदय परिवर्तन हो जाता है। माँ के बार-बार कहने पर भी ठुनठुनिया का मन पढ़ने-लिखने में नहीं लगता। अपनी इच्छा के अनुकूल काम करते हुए वह पैसे कमाकर माँ को खुश करने की कोशिश करता है और उसमें विफल होता है। अपने सबसे प्रिय को इतने प्रयासों के बाद भी दुखी देखकर ठुनठुनिया अपने जीवन में बदलाव लाता है। यह बदलाव जहाँ एक तरफ उसे तरक्की की राह पर ले जाती है वहीं इसके दूरगामी प्रभाव के रूप में उससे जुड़े अन्य लोगों के जीवन को भी संवार देती है। पात्र के आदर्श रूप की व्याख्या करते हुए उपन्यासकार लिखते है कि- "उपन्यास में यह किसी आडंबर के साथ नहीं आता है। एक बच्चे की सहज इच्छा की तरह आता है। जो उसके जीवन का सबसे सुंदर सपना भी है। ठुनठुनिया खेल-खेल में और अनायास ही वह सब कर डालता है। जिसे बड़े लोग बड़े आडंबर के साथ करते है।"[7] पूरा उपन्यास चरित्र के विकास के साथ ही हृदय परिवर्तन की भी विकास यात्रा है।

यह उपन्यास नाटकीय शैली में रचा गया है जो इसे रोचक और पठनीय बनाता है। कथा में नाटक हो रहा है और वह लगातार इतना आकर्षक है कि कहीं न कहीं लोग सांसे रोक कर रह जाते है। नबाब अलताफ़ हुसैन कहते है-"ओह, जान अधर में अटकी ही रही, जब तक रज्जब अली को ठीक-ठाक हालत में, एकदम सलामत वापस आते न देख लिया।"[8] जिज्ञासा को बनाए रखना और उस स्तर पर पाठक को ला देना अपने आप में लेखक एवं उपन्यास की बड़ी उपलब्धि है। उपन्यास को गढ़ने और मढ़ने में प्रकाश मनु माहिर है। इस अनुक्रम में उपन्यास के संवाद अपने पथ से कहीं भी विचलित नहीं होते हैं। उपन्यास की शैली नवीनता लिए हुए है। उपन्यासकार ने छोटे-छोटे कुनबों में या छोटी-छोटी कहानियों में कथा को बड़ी ही संजीदगी और बड़े ही लचक एवं मलंग भाव से गुथा है। जैसे एक शिल्पी हल्के हाथों से मूर्ति को मनचाहा आकार देता है और विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधनों से उसे सजाता चला जाता है। ठीक उसी प्रकार कथाकार प्रकाश मनु ने भी इस उपन्यास में निम्न वर्गीय एक सहज चरित्र का निर्माण किया है और उसे नाना मानवीय गुणों एवं मूल्यों से बड़ी खूबसूरती से सजाया है। उपन्यास में क्रमबद्धता से अधिक पड़ाव है जो अंत में जाकर एक कड़ी की भांति काम करते दिखते हैं।

उपन्यास को समझने के दो स्तर हो सकते है- पहला संवाद के स्तर पर और दूसरा घटनाओं के स्तर पर। संवाद के स्तर पर पहली अवस्था है माँ और बेटे के बीच का संवाद, दूसरा बेटे का समाज के साथ संवाद और तीसरी अवस्था है बेटे का आत्मावलोकन। इन घटनाओं के माध्यम से इस उपन्यास की समीक्षा करें तो हम पाएंगे कि ठुनठुनिया विभिन्न समय-काल में अपनी दुनिया के जीवन, उससे संबंधित समस्याओं तथा उनके सरल और सहज समाधान को दिखा रहा है। ठुनठुनिया नामक पात्र न सिर्फ बालमन के बचपने को दिखाता है बल्कि बचपन के संसार को दिखाते हुए बड़ों के संसार का भी निदर्शन करवाता है। वह दुनिया जिसे वे देखना नहीं चाहते या फिर देखकर बचकानी हरकते कहकर हँस भर देते हैं।

सफलता का मूल मंत्र सामूहिकता की भावना का विस्तार करना है और उपन्यास में यह कार्य ठुनठुनिया सरलता से करता है। वह अपनी सफलता को अकेले सेलिब्रेट नहीं करता है। उसके जेहन में स्वार्थपरकता कहीं नहीं है। वह सामूहिकता से लबरेज है। सामासिकता की भावना उसमें इस कदर बसी हुई है कि जैसे-जैसे सफलता के पायदान पर वह आगे बढ़ता जाता है, अपने अंतःवासियों, अपने गाँववालों के विकास के लिए सोचता है। अपने सुख-दुःख में साथ दिए, झगड़े-फसाद, लड़कपन की लड़ाई के साथियों तक को वह नहीं भूलता है। उपन्यास में यह पात्र मानवीय मूल्यों के संपोषक के रूप में उभरता है।

उपन्यास में छोटे-छोटे प्रकरणों में बहुत सी ऐसी बातें कही गई है जिनपर ध्यान देने की आवश्यकता है। अपने समय को दर्शाते हुए लेखक सामाजिक और वैश्विक कई सारी समस्याओं, पेचीदगियों को बड़े संजीदा और हास्यपरक ढंग से सुलझाते है। पंडितजी द्वारा ठुनठुनिया का भाग्य बाँचने के प्रसंग में वह कहता है- "जो आदमी आसमान की ओर देखकर चलता है और जिसे धरती की इतनी खबर भी नहीं है कि कब उसका पैर तालाब में फिसला और तालाब में गिरकर वह हाय-हाय करने लगा, वह भला किसी दूसरे का भाग्य क्या बाँचेगा।"[9] उक्त कथन सामाजिक बाह्यडम्बरों पर गहरा प्रहार है। उपन्यास में वर्णित आर्षवाक्यों के द्वारा उपन्यासकार सभी के लिए खुले मन से नवीन जीवनदृष्टि प्रस्तावित करते हैं। ठुनठुनिया द्वारा यह कहलाना कि- "माँ, पढ़ाई खाली किताबों से थोड़ी ही होती है। मैं तो जीवन की खुली पाठशाला में पढ़ना

चाहता हूँ।"[10] 'खुली पाठशाला' से आशय मनुष्यता के विस्तार से है। मनुष्य ने सिद्धांत और व्यवहार के अंतर को पाटने के बजाय उसे और भी गहरा कर दिया है। फलत: विद्यालयी ज्ञान और व्यवहारिक ज्ञान में अंतर्विरोध बना रहता है। लेखक ने ठुनठुनिया जैसे पात्र की निर्मिति कर उन अंतर्विरोधों के सम्मुख एक विकल्प प्रस्तुत किया है। उपन्यास के कथाक्रम में जीवन की खुली पाठशाला को प्रस्तावित करने का तरीका और उसकी प्रस्तुति संवेदनशील है। उसमें कहीं भी किसी धर्म, मजहब या विशेष संस्कृति का आग्रह नहीं है।

ठुनठुनिया का चारित्रिक विकास हो चाहे उपन्यास का शिल्प सबका स्वाभाविक विकास होता है। इनमें कहीं भी मूल्यों को जोर-जबरदस्ती ठूँसा नहीं गया है। संवादों को गंभीर, कठिन और पेचीदा नहीं बनाया गया है। उपन्यासकार शब्द शिल्पी है। बाल साहित्य का सृजन कितना श्रमसाध्य है यह उपन्यास के परत-दर-परत खुलने से पता चलता है। लेखक ने चिंतन के उच्च स्तर से उपन्यास का निर्माण किया है जिससे कि साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। बाल कथा द्वारा वे लोगों में उस चेतना का विकास करते हैं जो उन्हें मायूस नहीं करती है। लेखक का प्रयास है कि पाठक के होंठो पर हँसी भी बनी रहे और वे मामले की गंभीरता को भी समझ लें। साथ ही वे समस्या के समाधान की राह भी बताते चलते हैं। उपन्यास में मानवीय संवेगों का परिवर्तन और प्रत्यावर्तन होता है। इस रूप में प्रकाश मनु अपने सामान्य पात्रों के साधारण कथाओं के असाधारण कथाकार है।

**संदर्भ ग्रंथ :-**


1. मनु, प्र.(2019). *प्रकाश मनु के संपूर्ण बाल उपन्यास(खंड-1).* दिल्ली : इंद्रप्रस्थ प्रकाशन.पृष्ठ संख्या-111
2. वही.पृ-190
3. मनु, प्र. (2021). बाल उपन्यास: बच्चों की एक अलमस्त दुनिया (आत्मकथ्य). *कंचनजंघा,* वर्ष 01, अंक 02, 138. http://www.kanchanjangha.in/wp-content/uploads/2021/04/17-%E0%A4%86%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%AE%E0%A4%95%E0%A4%A5%E0%A5%8D%E0%A4%AF-%E0%A4%AA%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%B6-%E0%A4%AE%E0%A4%A8%E0%A5%81-%E0%A4%AE%E0%A5%88%E0%A4%82-%E0%A4%94%E0%A4%B0-%E0%A4%AE%E0%A5%87%E0%A4%B0%E0%A5%87-%E0%A4%AC%E0%A4%BE.%E0%A4%89%E0%A4%AA%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%B8-%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%B6%E0%A5%8B.-%E0%A4%AA%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%B6-%E0%A4%AE%E0%A4%A8%E0%A5%81-1.pdf
4. मनु, प्र.(2019). *प्रकाश मनु के संपूर्ण बाल उपन्यास(खंड-1).* दिल्ली : इंद्रप्रस्थ प्रकाशन.पृ-128
5. कश्यप, ओ. (2009) हिंदी बालसाहित्य:परंपरा एवं आधुनिक संदर्भ. https://omprakashkashyap.wordpress.com/2009/04/25/%E0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A4%82%E0%A4%A6%E0%A5%80-%E0%A4%AC%E0%A4%BE%E0%A4%B2%E0%A4%B8%E0%A4%BE%E0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%AF-%E0%A4%AA%E0%A4%B0%E0%A4%82%E0%A4%AA%E0%A4%B0%E0%A4%BE/
6. मनु, प्रकाश.(2019). *प्रकाश मनु के संपूर्ण बाल उपन्यास(खंड-1).* दिल्ली : इंद्रप्रस्थ प्रकाशन.पृ-172
7. मनु, प्र. (2021). बाल उपन्यास: बच्चों की एक अलमस्त दुनिया (आत्मकथ्य). *कंचनजंघा,* वर्ष 01, अंक 02, 139. http://www.kanchanjangha.in/wp-content/uploads/2021/04/17-%E0%A4%86%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%AE%E0%A4%95%E0%A4%A5%E0%A5%8D%E0%A4%AF-%E0%A4%AA%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%B6-%E0%A4%AE%E0%A4%A8%E0%A5%81-%E0%A4%AE%E0%A5%88%E0%A4%82-%E0%A4%94%E0%A4%B0-%E0%A4%AE%E0%A5%87%E0%A4%B0%E0%A5%87-%E0%A4%AC%E0%A4%BE.%E0%A4%89%E0%A4%AA%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%B8-%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%B6%E0%A5%8B.-%E0%A4%AA%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%B6-%E0%A4%AE%E0%A4%A8%E0%A5%81-1.pdf
8. मनु, प्रकाश.(2019). *प्रकाश मनु के संपूर्ण बाल उपन्यास(खंड-1).* दिल्ली : इंद्रप्रस्थ प्रकाशन.पृ-186
9. वही.पृ-156
10. वही.पृ-175

# नव-उपनिवेशिक संस्कृति के दौर में नव-वामपंथी कविता

**सैजू के**
शोधार्थी, कोच्चिन विश्वविद्यालय

**सारांश**
विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों के आन्तरिक मामलों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किये जाने वाले हस्तक्षेप को नव-उपनिवेशवाद (Neo-colonialism) कहा जाता है। नवउपनिवेशवाद की धारणा के माननेवालों का सोचना है कि पूर्व में उपनिवेशी शक्तियों ने जो आर्थिक ढांचा बना रखा था उनका अब भी उन उपनिवेशों पर नियन्त्रण करने में इस्तेमाल किया जा रहा है।यूरोप के देशों ने एक लम्बे समय तक एशिया और अफ्रीका के देशों पर अपना साम्राज्यवादी जाल फेंककर उनका राजनीतिक व आर्थिक शोषण किया लेकिन उन देशों में उभरने वाले स्वतन्त्रता आन्दोलनों ने साम्राज्यवादी देशों के मनसूबों पर पानी फेर दिया। धीरे-धीरे एशिया और अफ्रीका के देश एक-एक करके साम्राज्यवादी चुंगल से मुक्ति पाने लगे। जब साम्राज्यवादी शक्तियों को अपने दिन लदते नजर आए तो उन्होंने औपनिवेशिक शोषण के नए नए तरीके तलाशने शुरू कर दिए। उन्होंने इस प्रक्रिया में उन देशों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद का सहारा लिया। स्वतन्त्र होने के बाद नवोदित राष्ट्र इस स्थिति में नही रहे कि वे अपना स्वतन्त्र आर्थिक विकास कर सकें। उनके आर्थिक विकास में सहायता के नाम पर विकसित साम्राज्यवादी देशों ने डॉलर की कूटनीति (डॉलर डिप्लोमैसी) का प्रयोग करके उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया और धीरे-धीरे वे नए साम्राज्यवाद के जाल में इस कदर फंस गए कि आज तक भी वे विकसित देशों के ही अधीन हैं। इस व्यवस्था को नव-उपनिवेशवाद के नाम से जाना जाता है।इस नव उपनिवेशवाद के नकारात्मक पक्ष को ही नव वामपंथी कविता दर्शाती हैं।

**बीज शब्द**
नव वामपंथी दृष्टि,भूमंडलीय अमानवीय संस्कृति ,समाज में व्याप्त पशुता,प्रतिरोधी स्वर,संवेदनहीनता ,प्रौद्योगिकी का चकाचौंध,साम्राज्यवाद इत्यादि |

रचना के स्तर पर कविता की स्वायत्तता पर प्रश्न चिन्ह लगाना कठिन है। प्रत्येक रचना की ऐसी स्वायत्तता होती है ।कविता की स्वायत्तता की अपनी महती भूमिका है। उसमें कविता की भाषा, संस्कृति के साथ उसके सरोकार और उसके इतिहास तथा अन्य भाषाएं व संस्कृति संलग्नताएं और उसके इतिहास का समाविष्ट होना सहज ही मान लिया जाएगा। अक्सर यह शिकायत आजकल सुनने को मिलती है कि कविता के पाठकों की संख्या कम होती जा रही है। उसके कई कारण बताए जाते हैं । लेकिन उसका मुख्य कारण कविता के लिए उपलब्ध प्रतिकूल वातावरण ही है ।आज की धन केंद्रीय संस्कृति में या बाजार केंद्रित सामाजिक व्यवस्था में कविता को प्रमुख ना मानना स्वाभाविक है । सिर्फ कविता ही नहीं बल्कि असंख्य मानवीय उन्मुखताएं और अभिव्यक्तियां अनदेखी या अनसुनी होती जा रही हैं। कारण यह है कि बहुसंख्यकों के समाज को प्रभुत्ववादी अल्पसंख्यकों ने अपने अधीन में कर लिया है।आज भी नए साम्राज्यवाद का एक अदृश्य हाथ हमें नियंत्रित कर रहा है। बाजार केंद्रीय संस्कृति ने गतिशील संस्कृति को ध्वंसित किया है ।

हमारी गतिशील प्रथमत: मूल्यापेक्षी है। मनुष्य एवं मनुष्येतर जीवन और व्यवस्था को उसमें प्रमुख स्थान प्राप्त है ।परंतु बाजार केंद्रित संस्कृति ने अपने विकल्पों को सुस्थापित करने हेतु मनुष्य धर्मी दृष्टि के स्थान पर मनुष्य विरोधी दृष्टि को विकसित किया है पर उसका बाह्य रुप मनुष्य विरोधी नहीं है । बाजार केंद्रीय नई संस्कृति ने सिर्फ वाणिज्य के क्षेत्र को ही नहीं बल्कि शिक्षा, समाज कल्याण, स्वास्थ्य और विज्ञान को भी प्रभावित किया है ।इन सभी क्षेत्रों के कार्यकलाप बाहरी शक्तियों के इशारे पर चल रहे हैं। आज विकास की परिभाषा भी बदल गई है। विकास का तात्पर्य आंशिक विकास है। समग्र विकास की परिकल्पना आज मद्धिम पड़ गई है ।हमें कहना पड़ रहा है कि हमारे देश ने अपने राष्ट्रपिता गांधी जी को पूरी तरह से हाशिए पर छोड़ दिया है। प्रत्येक देश की नीतिगत योजनाओं में देश की भूमिका महत्वपूर्ण होती है ।अन्यथा हम जनतंत्र व्यवस्था का ढिंढोरा पीटने के हकदार नहीं है। वैश्वीकरण के नाम पर हमारी नीतिगत बातों में भी वर्चस्ववादी सत्ताओं की भूमिका ही रही है ।पूरी प्रौद्योगिकी स्ट्रेटजी उसी के अनुकूल विकसित की जाती है ।ऐसी स्थिति में यह सोचा नहीं जाता है कि देश का स्वत्व कितना महत्वपूर्ण है ।वस्तुत: देश का स्वत्व सबसे महत्वपूर्ण है । हमारी संस्कृति उसी पर आधारित है। देश का समग्र विकास,देश की जनतांत्रिक व्यवस्था की पारदर्शिता,न्यायिक व्यवस्था उसी पर केन्द्रित है। स्वत्व को अवहेलित करके विकास के आंकड़ों को रेखांकित किया जा सकता है,लेकिन समूचे जनहित को रेखांकित नहीं किया जा सकता।

**कविता दुनिया भर की चिंताकुल मानसिकताओं को मुखर कर देने वाली वैकल्पिता है ।यह कविता मात्र नहीं है। नव वामपंथी कविता में हमारा इतिहास निहित है।हर युग में कविता का इतिहास में बदलने के उदाहरण मिलते हैं ।आज इस भूमिका में कविता को रहना ही पड़ता है क्योंकि हमारा समय परिभाषेयता की सीमाओं को लांघ चुका है।**

वैश्वीकरण का सबसे बड़ा खतरा लघु संस्कृतियों का ध्वंसित होना है। आम जनता की समस्त अभिव्यक्तियों को अर्थहीन बना लेने की ताकत वह रखता है । ऐसे एक वातावरण में चाहे कविता हो, अर्थपूर्ण अन्य साहित्यिक गतिविधियां हो, स्थानीय भाषाओं और उनकी लघु संस्कृतियां हो, मानवीय चिंताओं को स्थानीयता के स्तर से जोड़कर पुनः वैश्विक स्तर तक गंभीरतापूर्वक लेने वाली दृश्य माध्यम हो या असंख्य लोक कथाएं हो, सभी अप्रमुख होने की स्थिति में है । पूंजी केंद्रित विकास में इनका कोई स्थान नहीं होता है । लेकिन संस्कृति के सतत विकास में इनका जितना योगदान है उतना किसी का नहीं है। संस्कृति का सतत विकास जीवन निरपेक्ष विकास नहीं है ।वह हमारे स्वत्व सापेक्ष विकास का अविभाज्य घटक है ।अतः संस्कृति के गतिशील विकास में ही जीवन की सामान्यताओं का विकास संभव है ।उसके लिए जो भी तत्व बाधक हैं उन को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया जाना चाहिए । नव उपनिवेशक संस्कृति आज मजबूत होती जा रही है ।वैश्वीकरण इसका पोषण कर रहा है ।हमारे सांस्कृतिक स्वत्व के ध्वंस में नई उपनिवेशिकता का हाथ है ।स्वत्व के ध्वंस के रूप में एक घना कोहरा छाये जा रहा है जिसे सामान्य भाषा में परिभाषित करना भी मुश्किल है । लेकिन हमारा पूरा तंत्र एक अयाचित स्थिति से गुजर रहा है । जिसने हमारी लघुसंस्कृतियों को तहस-नहस किया है। आज वैश्वीकरण और उपनिवेशक संस्कृति पर्यायवाची है। उपनिवेशवाद ने सब किसी पर अपना कब्जा कर लिया है । वह सरल ढंग से हमें उगल रहा है। हमारी अभिरुचियों एवं उन्मुखताओं पर वह हावी है । एक तरह की उन्मत्त अवस्था है।आज की भूमंडलीकृत संस्कृति में यह एक सरल सी सदिच्छा है।यह एक सख्त दृष्टि है जिसको बचाए रखने का मतलब है मानवीय संस्कृति का प्रतिरोध।जब हमारे लघु समाजों में ऐसी प्रतिरोधी क्षमता नहीं रहेगी तो भूमंडलीकृत संस्कृति का व्यापान अनियंत्रित रहेगा। भूमंडलीकरण पर गंभीरता पूर्वक विचार करें तो हमें अपनी वैचारिक अराजकता का पता चल ही जाएगा। इस वैचारिक अराजकता को नव वामपंथी कवि कुमार अंबुज अपने 'अतिक्रमण' शीर्षक संग्रह में लिखते हैं -

*"यों तो मैं खुश हूं*
*परंतु मुझे शर्म आती है*
*अपनी समकालीन कायरता पर*
*मैं शब्दों से काम चलाता हूं*
*परंतु मुझे अब कुछ दूसरे हथियार भी लगेंगे ।"*[1]

इसमें 'समकालीन कायरता' स्वयं में निहित वैश्वीकृत संस्कृति को ही द्योतित करती हैं ।यह हमारी सामाजिकता की सबसे अधिक विकृत प्रवृत्ति है । इसके रहते वैश्वीकरण को बाहरी शक्तियों के अतिक्रमण के रूप में देखना अनुचित है ।हम इस आक्रमण के शिकार हो चुके हैं ।इसलिए एकांत श्रीवास्तव अपने 'हस्ताक्षर ' शीर्षक कविता में अपने देश और संस्कृति की बिक्री की बात उठाते हैं -

*" सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है*
*और खो देते हैं हम*
*अपना देश। "*[2]

वैश्वीकरण ने प्रतियोगिता को सबसे प्रमुख माना है।हर दो इकाइयों के बीच में प्रतियोगिता है ।ईर्ष्या उसका अभिन्न अंग है। उसमें सबसे पहले संकट मडराता है मानवीयता पर,आज

की वैश्वीकृत संस्कृति में यह त्रासद नहीं है ।सब कुछ मान्य है।सब कुछ स्वीकार्य है। वैश्वीकृत संस्कृति में युद्ध मान्य सिद्ध हो गया है। इसलिए ज्ञानेंद्र पति ने अपनी कविता 'यह पृथ्वी क्या केवल तुम्हारी है' में इस ध्वंसक संस्कृति का प्रतीकीकरण यों किया है -

*"एक शक्तिशाली राष्ट्र के लिए सिरमौर*
*तुम्हारी उल्लसित कल्पनाओं में*
*पृथ्वी तुम्हारी उंगलियों पर नाचता क्रीडा कदुक*
*ठीक वैसा जैसा 'द ग्रेट डिक्टेटर' में*
*चैप्लीन ने दिखाया ।"*[3]

ज्ञानेंद्रपति के यहां संवेदनात्मक दृष्टि की सघनता अधिक सख्त है और उसमें व्यंग्य का तीखा एहसास भी है। शक्तिशाली राष्ट्रों के सिरमौर व्यक्तियों की 'उल्लसित कल्पनाओं 'में पृथ्वी का गेंद सम बन जाना आज की सबसे बड़ी त्रासदी है। इन काव्यानुभवों में दरअसल कविता बाहय ऐसी परिस्थितियां ही दर्ज मिलती है जिनमें बड़ी शक्तियों की उल्लसित कल्पनाएं बेशुमार ढंग से पंख पसारती है। उनके लिए दूसरे देश और उनके समाज 'क्रीडा कंदूक'जैसे है।इस कविता की आगे की पंक्तियों में विश्व की बड़ी बड़ी शक्तियों की उपनिवेशक दृष्टि का विस्तार से उल्लेख है।

*"मैं कहता हूं*
*चक्रवर्ती के चक्के के नीचे आने को तैयार*
*मैं एक कवि*
*पृथ्वी सूक्त के रचयिता वंशज*
*माते मर्म विमृगवरी*
*माते हृदयमर्पितम*
*कवि का*
*पृथ्वी पर चलकर ,उसे रौंदने के लिए*
*क्षमा मांगने वाले विनतमाथ कवि का उन्नतभाल वंशज*
*यह पृथ्वी का केवल तुम्हारी है ? ।"*[4]

यहां पर कविता है। कवि है ।बहिरंगतः दोनों के प्रतीति विन्यास में मुखरता का स्पर्श है । लेकिन यह सिर्फ कविता नहीं है।यह हमारे भू भाग को धीरे धीरे तिरोभावित होते देख उसको प्रतिरोधित करने वाली मानसिकता है। अतः यह तथ्य भी सिद्ध होता है , कविता सिर्फ एक नहीं है। कवि भी सिर्फ एक नहीं है। कात्यायनी की कविता 'जादू नहीं कविता' में

*" स्मृति स्वपन नहीं*
*आशाएं भ्रम नहीं*
*जगत मिथ्या नहीं*
*कविता जादू नहीं*
*सिर्फ कवि हम ही नहीं ।"*[5]

कविता दुनिया भर की चिंताकुल मानसिकताओं को मुखर कर देने वाली वैकल्पिता है। यह कविता मात्र नहीं है। नव वामपंथी कविता में हमारा इतिहास निहित है। हर युग में कविता का इतिहास में बदलने के उदाहरण मिलते हैं ।आज इस भूमिका में कविता को रहना ही पड़ता है क्योंकि हमारा समय परिभाषेयता की सीमाओं को लांघ चुका है। प्रौद्योगिकी विकास की चकाचौंध में हम जरूर उल्लसित होते हैं ।पर उसकी विषमताओं की ओर संकेत करते ही उसकी खूबियां हम पर इस तरह छा जाती है कि मानो हम उसके अधीनस्थ हो गए हैं । लेकिन विषमताएं आखिर विशेषताएं ही है ।प्रौद्योगिकी ने मनुष्य को यंत्रवत मनुष्य बनाया है।प्रौद्योगिकी मनुष्य ने यह तय कर लिया है कि मनुष्य को, उसकी संस्कृति को ,उसके सपनों को अधीनस्थ किया जा सकता है ।सबकुछ अधीनस्थ करने की उपनिवेशक संस्कृति को कविता में सीधा स्थान भले ही ना मिले क्योंकि कविता अपना लोग निर्मित करती है । स्वप्निल श्रीवास्तव की कविता है 'राजा और प्रजा' आख्यान शास्त्र के अवलंब लेकर अधीनस्थ करने की प्रवृत्ति का सरल ढंग से प्रतिपादित किया गया है |

*"प्रजा सूइलार गाय है*
*जो भी चाहे रनों से निचोड़ लें दुध ।"* [6]

लोक संदर्भ में गाय और दूध की बात ठीक है । लेकिन दूध का किसी के द्वारा भी दुहा जाना लोक का उल्लंघन करती है। प्रौद्योगिकी की यही एक विषमता है जिसके वैश्वीकरण के संदर्भ में कई आयाम हैं। वैचारिक अराजकता के रहते यह काम आसान हो गया है । भाषा, संस्कृति और लोक का ध्वंस वैश्वीकरण की मूल प्रवृत्ति है ।मुनाफे पर बाजार का विकास उसकी एक अन्य मुख्य प्रवृत्ति हैं। पूंजीनिवेश के माध्यम से परोक्ष कब्जा उसका परम लक्ष्य है। इन्हीं विशेषताओं के बीच हमारा नागरिक जीवन पल्लवित पुष्पित होता है ।हमारे नागरिक बोध को इन विषमताओ ने ग्रस लिया है । पर यह खलनायक झूठा प्रचार यह कर रहा है कि वह दुनिया के लिए चिंतित है। पुराने जमाने में सत्ताधारी शक्तियों के बीच षड्यंत्र चलते थे । आज सभी सत्ताधारी और शक्तिशाली दूसरों की भलाई चाहते हैं ।गुणी प्रतीत होने वाले इस षड्यंत्र का इतिहास वह स्वयं लिख रहा है ।वह इतिहास उसका भी है और हमारा है ।उसके षड्यंत्र के तौर तरीके हैं ।हमारी अराजकता के अनेक आख्यान भी उसमें शामिल हैं। लेकिन नव वामपंथी कविता इस वैश्वीकृत इतिहास के समांतर अपना एक इतिहास रच रही है आज।जिसमें उसे कभी-कभी सख्ती से पेश करना भी पड़ता है। मनुष्य के इतिहास को शब्दों में तब्दील करके जब नव वामपंथी कविता नया इतिहास रचती है तो स्पष्ट है कि वह दूर दूर की बात ही कर रही है ।लेकिन जैसे गंभीर बहसें अनसुनी रह जाती है वैसे कविता को भी नजरंदाज किया जाता है। लेकिन संभवतः कविता का महत्व इस कारण से बढ़ता रहता है। कविता के अवदूत के अंदाज को लीलाधर मंडलोई अपनी 'दीवाना कबीर 'शीर्षक कविता में व्यक्त करते हैं जबकि कविता की अवहेलना की बात से लीलाधर मंडलोई अपरिचित नहीं है ।यह नई संस्कृति का परिणाम है पर कवि का मानना है कि नव वामपंथी कविता नया इतिहास रचने को बाध्य है। तमाम गोल मेजी बहसों में मनुष्यता को भुनाया जाता है और मनुष्य की चिंता का एक असंगत नाटक खेला जाता है। पर कविता ऐसा नहीं कर

सकती है ।इसलिए लीलाधर मंडलोई की यह कविता हमारे समक्ष एक तर्जनी की तरह उपस्थित है -

*"आओ खुदा के वास्ते इधर और इनकी बात सुनो दीवाना भी है तो जगती आंखोंवाला*
*वह जग भी रहा है तो हम सब की खातिर*
*ना कोई लीडर है वह नाही है दलाल कोई*
*बल्कि इन दोनों के खिलाफ ही वह बोल रहा।"*[7]

ब्रांड संस्कृति में अपना सब कुछ बेचे जाने की प्रक्रिया के प्रति बेसुध पीढ़ी की अराजकता इस कविता में तीखा व्यंग्य है।लेकिन यह व्यंग्य के लिए लिखी गई कविता नहीं है। यह एक कवि की चिंता है। अपनी चिंताकातरता में वह कर्मठता से मुंह नहीं मोड़ता है ।अपनी तर्जनी उठाता है और कहता है

*" क्यों बैठे हो ? हुए कैद और जैसे बेजुबान*
*निकलो तन्हाइयों की धुंध से आगे उधर*
*खुले मैदान की तरफ कि उधर*
*देखो एक दीवाना कबीर है कि जो सच बोल रहा है।"*[8]

अपनी कविता के केंद्र में लीलाधर मंडलोई ने कबीर को पहचाना है ।कबीर के मिथक को संस्थित करके सच के बोल को कविता में उतारने ही उनका लक्ष्य है।इस बहाने बाजार की कैद में, जंग के नाम पर व्याप्त उपनिवेशवाद संस्कृति की कैद में फंसे, निष्क्रियता के बहाने वैश्वीकरण की उमर कैद में हमेशा के लिए बंद पड़े हमारे समाज के लिए अब एक नए इतिहास की जरूरत को महसूस करते हुए उन्होंने संभवतः यह कविता लिखी है । यह वैश्वीकरण पर लिखी हुई कविता नहीं है। वैश्वीकृत संस्कृति में आकंठ डूबे समाज पर लिखी कविता है। कविता की यह सतर्कता बहुत कम पहचानी जाती है। इसका मुख्य कारण सतर्कता के बावजूद पूरी आबादी की सतर्कहीन संस्कृति या एक अराजक संस्कृति के चंगुल में फंसने से रहा । यह एक सच है।हमारे समय का यह एक और घोर विरोधाभास भी है। हमारे आचरण में ,हमारी बोल में और हमारी देह भाषा में इसको पहचाना जा सकता है ।विष्णु नागर ने अपनी 'धन और शांति ' शीर्षक कविता में हमारी संस्कृति की अराजकता को इस प्रकार व्यक्त किया है-

*" धन के बिना एक दिन काम नहीं चलता*
*जबकि शांति के बगैर*
*वर्षों चला जाता है । घन जमाने की प्रक्रिया जटिल,*
*उबाऊ शरीर को तोड़ देने वाली और आत्मा को चींदा देने वाली होती है ।"*[9]

यह कविता हमारे अंदर मन को कुरेद रही है और बार-बार सवाल कर रही है कि आखिर हम चाहते क्या है ? हमारी संस्कृति के अंर्तनाटकों का मकसद क्या है ? सर्तकहीनता की अधकचरी स्थितियों के रहते आज भी कविता निरंतर इन सवालों से जूझती है और सर्तक एवं जागरूक होने की नियति अपनी गति समझती है।भूमंडलीकरण और बाजारीकरण की चकाचौंध में आधुनिक मानव संवेदनहीन होता जा रहा है। उनकी दृष्टि अर्थकेन्द्रित हो जाती है और मूल मानवीय संवेदनाओं को वह भूला देता है । आपसी संबंध शायद इसी वजह से बिगड़ जाता है। पहले, प्रेम जैसा भाव जो सबसे मूल्यवान माना जाता था अब दो कौड़ी का ही रह जाता है। प्राचीन संस्कृतियां भूमंडलीयकृत अवसाद में अपनी अस्मिता खो जाने के डर से स्वयं कापंती है ।

*" जो भी है नयनाभिराम वह क्रय*
*मनोहर बिकाऊ*
*घोर प्रदर्शनी के युग में मत चाहे वस्तु टिकाऊ*
*महंगा बिको*
*खरीदो महंगा*
*दो एक में करो*
*हटकर बना दूकान यहां पर लोग बाग समाना।"* [10]

## निष्कर्ष

यह शतश: सही है कि इतिहास के विकल्प के रूप में ही नववामपंथी कविता अवतरित होती है तो उसे यह सिद्ध होता है कि आगे की पीढ़ी के लिए भी यह कविता महत्वपूर्ण विरासत है ।इस कारण से कविता में आने वाली पीढ़ी को लेकर कई प्रकार की आशंकाएं व्यक्त हुई हैं । किसी सामाजिक अध्ययन में, किसी विज्ञान साहित्य में ,किसी नृतत्वशास्त्रीय दस्तावेज में या किसी अर्थशास्त्रीय विश्लेषण में इस तरह की आशंकाएं जब मिलती है तो हमारा कान कभी-कभी सतर्क रहता है ।नव वामपंथी कविता भी ऐसी ही आशंका व्यक्त करती है । यह प्रश्न मुख्य होते हुए कि कविता द्वारा प्रकटित मनुष्य धर्मी समस्त उन्मुखताएं किस हद तक स्वीकृत होती है । फिर भी एक और सच यह है कि कविता आंकड़ों के बल पर जीती नहीं है।नव वामपंथी कविता मनुष्य के लिए जीती है और वह मनुष्य की सचेतना और सतर्कता का उर्वर इतिहास भी रचती है। इसलिए नव वामपंथी कविता आम जनता की कविता है।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1.अंबुज,कुमार.(1983).अतिक्रमण.नई दिल्ली:राधाकृष्ण प्रकाशन.पृ .25

2.श्रीवास्तव, एकांत. (1994).हस्ताक्षर.नई दिल्ली:आधार प्रकाशन. पृ .33

3. ज्ञानेंद्रपति. (1995).यह पृथ्वी क्या केवल तुम्हारी है. नई दिल्ली : किताबघर प्रकशन.पृ.66

4. वहीं – पृ .69

5. कात्यायनी. (2002).जादू नहीं है कविता. नई दिल्ली : आधार प्रकाशन.हरियाणा. पृ.28

6. श्रीवास्तव, स्वप्रिल.(2004).राजा और प्रजा. नई दिल्ली: मेधा बुक्स. पृ .27

7. मंडलोई, लीलाधर. (1999).दीवाना कबीर. नई दिल्ली: आधार प्रकाशन. पंचकूला.पृ.58

8. वहीं – पृ .60

9. नागर, विष्णु. (1980)धन और शांति . नई दिल्ली : आधार प्रकाशन.पृ 42

10. शुक्ल, अष्टभुजा. (2012).पद कुपद. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ.50

# 'मुर्दहिया' में चित्रित अविस्मृत लोक पात्र

**कुमार सत्यम**
शोधार्थी -विश्वभारती

**शोध सार :** प्रस्तुत शोधालेख में लेखक तुलसीराम की आत्मकथा में उस लोक परिवेश की समीक्षा की गई है जिसमें लेखक के व्यक्तित्व की सृष्टि हुई। लोक पात्रों के बहाने भारतीय ग्रामीण परिवेश की अंत: तत्वों की संरचना को विश्लेषित किया गया है।

**बीज शब्द :** मुर्दहिया, सिंघा, रिंगरेजिया, हरवाही, चरवाही, बगदाद

रचनाकार जब अपने मनोभाव को अभिव्यक्त करता है तब उसकी कथावस्तु में कहीं न कहीं उसका लोक-परिवेश भी बिंबित होता है। यह लोक परिवेश, मनुष्य की पूरी संस्कृति-समाज के सांस्कृतिक विकास का स्रोत भी है। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक' शब्द को व्याख्यायित करते हुए लिखा है -- "आधुनिक सभ्यता से दूर, अपनी तथा प्राकृतिक अवस्था में वर्तमान, तथाकथित असभ्य एवं अशिक्षित जनता को 'लोक' कहते हैं जिनका जीवन-दर्शन और रहन-सहन प्राचीन परंपराओं, विश्वासों तथा आस्थाओं द्वारा परिचालित होता है।"[1]

'मुर्दहिया' तुलसीराम की आत्मकथा का पहला खंड है जो वर्ष 2010 में प्रकाशित हुआ। इसमें तुलसीराम ने अपने जन्म से लेकर बनारस पलायन तक की जीवन संघर्षों को चित्रित किया है। कहने के लिए यह तुलसीराम की जीवनी का अंश है परंतु इसके बहाने लेखक ने अपने दलित समाज के लोक पात्रों का यथार्थ एवं प्रमाणिक दस्तावेज प्रस्तुत किया है। मुर्दहिया लेखक के गांव धरमपुर की कर्मस्थली थी। चरवाही से लेकर हरवाही तक के सारे रास्ते वहीं से गुजरते थे। इस मुर्दहिया से लेखक को आत्मीय लगाव पूरी जीवन-पर्यन्त है। वे लिखते हैं --"हमारी दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दुख-दर्द, अपने अंदर लिए मुर्दहिया में दफन हो गए थे। यदि इनमें से किसी की आत्मकथा लिखी जाती तो उसका शीर्षक 'मुर्दहिया' ही होता।"[2]

'मुर्दहिया' के दलित समाज में चाहे निम्न से निम्न लोक हो, चाहे स्थल हो चाहे पशु, वे सब लेखक की स्मृति में वर्षों बाद भी ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। एक तरह से देखा जाय तो यह लोक परिवेश ही उनके आत्मकथा को परिपूर्ण बनाती है।

'मुर्दहिया' में लेखक सबसे पहले परिवार की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है जिसमें केवल अशिक्षा एवं अंधविश्वास का अंधकार ही फैला हुआ है। लेखक के परिवार की निम्नवर्गीय पिछड़ी पृष्ठभूमि पूरे भारतीय दलित समाज की सच्चाई है जिसमें भारत का दलित पिछड़ा वर्ग जीने के लिए विवश था। 'मुर्दहिया' में तुलसीराम ने जिस अंधकार से भरे पिछड़े निम्नवर्ग की दशा का वर्णन किया उसमें कुछ ऐसे जीवंत पात्रों को भी प्रस्तुत किया है जो पाठकों को अपनी जिंदादिली एवं विशेषता से बाँध लेते हैं। ऐसे ही जीवंत पात्रों में लेखक ने जिसे याद किया है वह है, जोगी बाबा। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि किसी भी व्यक्ति के मुँह से जो भी पहला शब्द निकलता था, वे उसी शब्द से तीन सतर वाली कविता तत्काल बनाकर एक विचित्र स्वर शैली में गाने लगते थे --

"जइसन कहत बाड़ा आँधी
वइसन मारल गइलै गाँधी
बड़ ससतिया सहबा राम
बड़स सतिया सहबा राम"[3]

वे हाजिर जवाब काव्य के एक अति कुशल कवि थे तथा हजारों शब्दों के इस विधा में तत्काल पलटने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी।

जोगी बाबा की तरह एक अन्य व्यक्ति का नाम था बंकिया डोम। किसी की मृत्युभोज के समय वह बिना निमंत्रण के सिंघा बजाता हुआ पहुँच जाता। वह वहाँ खाने के अलावा झोले में भी भर लेता था। अगर कोई उसे ऐसा करने से मना कर देता तो वह एक गांव से दूसरे गांव जाकर सिंघा बजाकर उस आदमी को कंजूस, मक्खीचूस, भिखमंगा आदि-आदि कहकर उसकी बेइज्जती कर देता। इसके विपरीत देनेवालों का वह सिंघा बजाकर खूब तारीफ करता।

लेखक की स्मृति में एक अविस्मरणीय पात्र के रूप में 'हिंगुहारा' है जो गांव में सालभर में एक बार हींग बेचने आता था । फिर बिना पैसा लिए वह वापस लौट जाता। सालभर बाद वह पुन: उसी महीने में वापस आकर पुराने ग्राहक के घर गाते हुए पैसे माँगता –

"हे जगलू के माई, काम घाम
बंद करा हींगक पइसा खर्र करा।"[4]

अपनी स्मृति से लेखक ने हींगुहारा के माध्यम से गांव के लोगों की ईमानदारी पर भी प्रकाश डाला है जो साल भर बाद भी पैसे चुका देते थे। ऐसे ही लेखक ने गिद्ध प्रेमी 'पग्गलबाबा' को याद किया है। वे गिद्धों के अंडे को सहलाते रहते थे।

तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा में बगदाद 'रिटर्न' जेदी चाचा को पर्याप्त आत्मीयता से चित्रित किया है। वे वंसु पांडे के हरवाहा थे तथा अन्य हरवाहे की तरह शोषित भी होते थे। वे पांडे के प्रतिरोध में एक नए किस्म का सत्याग्रह करने लगे। वे सब काम-धाम बंद कर दाढ़ी-मूँछ बढ़ाना शुरू कर दिए तथा नंगी धूप में चारपाई डालकर एक चादर ओढ़कर सोते संभवत: इनका ये रवैया ईरानी जंगल आंदोलन से प्रभावित था --"जेदी चाचा ने अपने बगदाद प्रवास के दौरान इन ईरानी जंगलियों के बारे में अवश्य कुछ सुना होगा, इसीलिए उन्होंने उनका रास्ता अपनाते हुए बंसू पांडे के विरुद्ध विद्रोह का बिगुल फूँक दिया था, जिसके चलते इन्होंने जान दे दी, किंतु क्रांतिकारी आदर्श नहीं छोड़ा। ऐसे थे भुक्खड़ क्रांतिकारी बगदाद रिटर्न, जेदी चाचा।"[5]

जेदी काका जैसे जीवंत व्यक्ति को लेखक ने पर्याप्त मानवीय संवेदना प्रदान की है। 'मुर्दहिया' में पुरुष पात्रों के साथ स्त्री के प्रति भी तुलसीराम ने अपनी पर्याप्त लेखकीय संवेदना प्रदान की है। ऐसे ही एक स्त्री पात्र में गांव की किसुनी भौजी है। उनका पति कोइलरी में काम करता है। उनका वर्णन करते हुए लेखक लिखते हैं --"किसुनी भौजी दो बच्चों की माँ थी। किंतु उम्र मुश्किल से बाइस साल। उसके अंदर दुखड़ा सुनाने की अद्‌भुत वर्णनात्मक शैली का समावेश था। जब वह चिट्ठी लिखवाती थी, तो लगता था कि दुखड़ा स्वयं अपना आत्मविवेचन कर रहा है। यदि वह पढ़ती, तो शायद दुखांत साहित्य में बहुत कुछ गढ़ती।"[6]

**'मुर्दहिया' में आनेवाले निम्न से निम्न पात्र भी लेखक के अद्‌भुत लेखनी क्षमता द्वारा एक विशिष्ट अविस्मरणीय पात्र बनकर पाठक के हृदय में स्थान पाता है। 'मुर्दहिया' में वर्णित सारे पात्र भारत की निम्न वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिनमें अशिक्षा, अंधविश्वास है परंतु ये सभी पात्र अपनी सहज मानवीय संवेदना लिए हुए हैं।**

रचनाकार ने उनके द्वारा लिखवाई गई चिट्ठी का कुछ अंश प्रस्तुत किया है जिसमें एक स्त्री की वेदना के साथ ही साथ अकाल में ग्रस्त आम आदमी की पीड़ा को भी उजागर किया है--तु कइसे हउवा? सुनी ला की कोइलरी में आग लगि जाले। ई काम छोड़ि द। गवुवै में मजूरी कई लेहल जाई सतुवै से जिनगी चलि जाई येहर बड़ी मुसकिल में बीतता है। अकेलवै जियरा ना लागैला उपरा से खइले क बड़ा टोटा है।"[7]

उपरोक्त पंक्तियों से एक भारतीय मजदूरिन स्त्री की विरह एवं पीड़ा का अनुभव किया जा सकता है। किसुनी भौजी की तरह लेखक की स्मृति में 'नटिनिया' को भी याद किया है। वह सुंदर होने के साथ ही कुशल नर्तकी थी। उसका अंग-प्रत्यंग नृत्यकला के कल-पुर्जे की तरह लगते थे। वह पूर्णत: अनपढ़ थी किंतु राह में आते-जाते लेखक से जब तब अंग्रेजी पढ़ाने का आग्रह करने लगती --"हमहूँ के रिंगरेजिया पढ़ाव रे बाबू।"[8]

लेखक उसे अंग्रेजी के कुछ अक्षर सिखाने की असफल कोशिश करने लगे परंतु वह ए बी सी डी भले ही न सीख पाई हो परंतु 'पिपरा पे गिधवा बइठल हउवै' का अंग्रेजी

अनुवाद 'वल्चर्स आर सिटिंग आन पीपल ट्री' अवश्य रट गई। उसके द्वारा दुहराए जाने वाले इस वाक्य ने तुलसीराम को अपने गांव का सबसे बड़ा आवारा बना दिया था और पूरे गांव नटिनिया एवं इनको लेकर कई अफवाहें भी उड़ने लगीं। इसी प्रकार लेखक ने दलित सवर्ण संबंधों पर भी प्रकाश डाला है। जाहिर है कि ये सवर्ण जाति दलितों पर आधिपत्य जमाए रखते फिर भी वर्षों से साथ रहते हुए दलित सवर्णों के बीच मानवीय सद्भाव भी अवश्य विकसित हुआ।

स्कूली जीवन में पर्याप्त भेदभाव के बाद अध्यापक तुलसीराम की प्रतिभा की सराहना करते। स्कूल के हेडमास्टर परशुराम सिंह इनकी उत्साहवर्द्धन करते। लेखक ने विद्यार्थी जीवन की हर छोटी-छोटी घटना रसात्मकता के साथ सुनाया है। 'मुर्दहिया' के प्रति अपनी असीम लगाव को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं --"जमाना चाहे जो भी हो, मेरे जैसा कोई अदना जब भी पैदा होता है, वह अपने इर्द-गिर्द घूमते लोकजीवन का हिस्सा बन ही जाता है। यही कारण था कि लोकजीवन हमेशा मेरा पीछा करता रहा। परिणामस्वरूप मेरे घर से भागने के बाद जब 'मुर्दहिया' का प्रथम खंड समाप्त हो जाता है, तो गांव के हर किसी के मुख से निकले पहले शब्द से तुकबंदी बनाकर गानेवाला जोगीबाबा लक्कड़ ध्वनि पर नृत्यकला बिखेरती नटिनिया, गिद्ध-प्रेमी पग्गल बाबा तथा सिंघा बजाता बंकिया डोम जैसे जिंदा लोक पात्र हमेशा के लिए गायब होकर मुझे दुख पहुँचाते हैं।"[9]

'मुर्दहिया' में आनेवाले निम्न से निम्न पात्र भी लेखक के अद्‌भुत लेखनी क्षमता द्वारा एक विशिष्ट अविस्मरणीय पात्र बनकर पाठक के हृदय में स्थान पाता है। 'मुर्दहिया' में वर्णित सारे पात्र भारत की निम्न वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिनमें अशिक्षा, अंधविश्वास है परंतु ये सभी पात्र अपनी सहज मानवीय संवेदना लिए हुए हैं। अकाल एवं बेरोजगारी से ग्रस्त ये सभी पात्र जीवन संघर्ष में जुटे हुए हैं। उनकी जिजीविषा कठोर जीवन संघर्ष को दिखाकर जीवन के प्रति सकारात्मक नजरिए को ही प्रकट करता है। तुलसीराम की निजी जिंदगी भी विभिन्न आपदाओं के बीच ही आकार पाती रही। एक पिछड़े दलित परिवार में जन्म लेकर भी उन्होंने जो सफलता प्राप्त की, वह उसी संघर्षमय जीवन की पृष्ठभूमि रही है। 'मुर्दहिया' में आए हुए प्रत्येक पात्र अपनी जिजीविषा एवं सकारात्मक जीवन दृष्टि से लेखक के जीवन पर गहरा प्रभाव डालते हैं जिनको कालांतर में खोने पर वह दुःखी है।

**संदर्भ :**


1. उपाध्याय कृष्णदेव, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन प्रा. लि., 56 रानीमंडली बच्चा जी की कोठी, इलाहाबाद-211003, संस्करण : 2016, पृष्ठ संख्या --21-22
2. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 23-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण : 2016, पृष्ठ संख्या --5
3. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 23-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण : 2016, पृष्ठ संख्या --31
4. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 23-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण : 2016, पृष्ठ संख्या –29
5. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 23-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण : 2016, पृष्ठ संख्या –93
6. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 23-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण : 2016, पृष्ठ संख्या –90
7. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 23-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण : 2016, पृष्ठ संख्या --90
8. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 23-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण : 2016, पृष्ठ संख्या --117
9. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 23-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण : 2016, पृष्ठ संख्या –5

# साझी संस्कृति की विरासत : कितने पाकिस्तान

**जयंती सिंह**
शोधार्थी, विश्वभारती, शांतिनिकेतन
पश्चिम बंगाल

**शोध सार**
प्रस्तुत शोध आलेख में 'संस्कृति' शब्द की अवधारणा को परिभाषित किया गया है। कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' विमर्शमूलक उपन्यास है जिसमें कथाकार ने भारतीय साँझी संस्कृति के उन मूल तत्वों की तलाश की है जो उनकी विश्वव्यापी मानवीय सौहार्द्रपूर्ण दृष्टि को व्याख्यायित करता है।

**बीज शब्द**
संस्कृति, सामासिक, आतंकवाद, अलगाववाद, मजहबी, वतनपरस्ती, सांप्रदायिकता

संस्कृति एक ऐसा पर्यावरण है जिसमें रहकर व्यक्ति एक ऐसा सामाजिक परिवेश बनाता है जिसमें प्राकृतिक पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता अर्जित करता है। साधारण तौर पर संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों की संपूर्णता है। संस्कृति की अवधारणा इतनी विस्तृत है कि उसे एक वाक्य में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। डॉ. शिवदास ने संस्कृति की परिभाषा देते हुए लिखा है, "संस्कृति मानव अथवा मानव समुदाय की मानसिक बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों की अभिवृद्धि और परिष्करण की सूचक होती है। संस्कृति का मूल मात्र भौतिक समृद्धि से नहीं जाँचा जा सकता।"[1] संस्कृति सदियों से समय के प्रवाह में बहते हुए परिमार्जित और परिष्कृत होती रहती है। संस्कृति को विकसित करने में किसी एक विशेष जाति का योगदान नहीं होता क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समूह में रहना पसंद करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय संस्कृति पर विचार करते हुए लिखा है, "मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है। नाना परिस्थितियों में रह कर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान मानवी संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है।"[2] अत: संस्कृति किसी की जातीय विरासत नहीं होती बल्कि वह युगों-युगों से चली आई होती धारा में अनेक नए तथ्यों से जुड़कर एवं घुल-मिलकर एक हो जाने की प्रकिया है। भारतीय संस्कृति विश्व बंधुत्व की संस्कृति है, वसुधैव कुटुम्बकम् की है। हमारी नीति समभाव की है, सामूहिक रहन-सहन की, सामूहिक कर्म करने की मिलजूल कर रहने की, मानवता की, परहिताय की, भारतीय संस्कृति की विशेषता का मूल्यांकन करते हुए डॉ. ज्योति वत्स ने लिखा है, "हमारी संस्कृति सदैव से ही सामासिक रही है। देश के पूर्वी कोने से लेकर दक्षिण कोने तक क्षेत्रीय विविधता होते हुए भी लोगों की मानसिकता एक है, संस्कृति एक है। भारत की संस्कृति पर आर्यों की गहरी छाप है। हमारी संस्कृति में समन्वय की अद्‌भुत ताकत है। इतनी बाह्य संस्कृतियों का आगमन होने पर भी यह संस्कृति सदैव जीवित रही है। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारत एक है। भारतीय संस्कृति उदार और सहिष्णु है। हमारी संस्कृति का अनेक संस्कृतियों से मेल इसी ओर संकेत करता है।"[3]

कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' एक विमर्शमूलक उपन्यास है जिसमें लेखक ने समय को नायक बनाकर दुनियाभर में पनपने वाले आतंकवाद के कारणों का विवेचन किया है तथा इसके परिपेक्ष्य में भारत की संस्कृति की साँझी विरासत को भी प्रस्तुत किया है जो हर समय अपने अक्षुण्य रूप में रही जिसे मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए नष्ट-भ्रष्ट करना चाहा। लेखक ने इस उपन्यास में हिंदुस्तान की गंगा-जमुना संस्कृति के मानवीय उदार पक्ष को प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि संस्कृति स्वयं में अक्षुण्य है। वे लिखते हैं, "कोई भी संस्कृति पाकिस्तानों के निर्माण के लिए जगह नहीं देती। संस्कृति अनुदार नहीं, उदार होती है --वह मरण की उत्सव नहीं मनाती, वह जीवन के उत्सव की अनवरत श्रृंखला है। इसी सामासिक संस्कृति की जरूरत हमें है क्योंकि वह जीवन का सम्मान करती है।"[4] कमलेश्वर ने इस विराट कथानक फलक पर अनेक स्थानों पर भारत की सामासिक संस्कृति के शुभ पक्ष को दिखाकर जीवन के प्रति अपने सकारात्मक नजरिए को रखा है तथा उन तथ्यों का पुरजोर विरोध किया है जो हिंदुस्तान की साँझी विरासत को खतरा पहुँचाते हैं। उपन्यास में अदीब जब मीरबाकी के गांव सनेहुआ जाता है

तब फैजाबाद के सड़कों पर वह जो चहल-पहल देखता है, उस भीड़ में हिंदू-मुस्लिम की मिली-जुली सांस्कृतिक परिदृश्य देखने को मिलती है, "मुसलमान औरतें बुरका पहने बाजारों में खरीद-फरोख्त कर रही थीं या चूड़ियाँ पहन रही थीं। हिंदू मनिहार उनकी नाजुक कलाइयों में चूड़ियाँ पहना रहे थे और वे बुर्के का पल्ला उठाए, खुले मुँह उनके सामने बैठी थीं। ये मनिहार उनके भाई, चाचा, या मामा थे।"[5]

हिंदू-मुसलमान की ये साँझी सामान्य जनजीवन को जीवन के मुख्यधारा से अलगाया नहीं जा सकता। विभाजन के उपरांत सलमा के नाना पाकिस्तान में मुहाजिर के रूप में रहने लगे परंतु अपने दिलों-दिमाग से अपने वतन हिंदुस्तान की यादों को नहीं भूला सके, सलमा कहती है, "अदीब! तुम मुसलमान की इस रूहानी तकलीफ को नहीं समझ सकते। अगर तुम हिंदू हिंदुस्तान के कदीमी बाशिंदे हो, तो हम भी यहीं की कदीमी औलादें हैं ...हम मुसलमान हो गए तो क्या हुआ ...मजहब बदलने से मिट्टी तो नहीं बदल जाती।"[6] अलगावावादी राजनीति ने ऐसा वातावरण बनाया जिसमें हिंदू आवश्यकता से अधिक हिंदू और मुसलमान आवश्यकता से अधिक मुसलमान बन गए। इतिहास खँगालने पर देखा जाता है कि अकबर और दाराशिकोह ने हिंदू-मुस्लिम की मिली-जुली संस्कृति का निर्माण करने का प्रयास किया। परंतु औरंगजेब ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए पनपती हुई एक विश्व-व्यापी संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। शहंशाह जहाँगीर उगते और डूबते सूरज को सलाम करता है। उसके अनुसार सूरज की इबादत करने का रस्म अकबर ने जोधाबाई से पाई थी। जहाँगीर कहता है, "उगते सूरज को सलाम करना और डूबते सूरज को नमाज के साथ विदा करना ...यह तो हमारी हिंदुस्तानी परंपरा का खास हिस्सा है।"[7] प्रकृति के साथ इन्सान के नैसर्गिक संबंध को विद्या भी महसूस करती है। जब दंगे के बीच सबकुछ लुटाकर एक अनजाने शहर पहुँचती है और पाकिस्तान पहुँचकर उसे हैरानी के साथ राहत होती है कि यहाँ भी लोगों को बारिश की फिक्र है, "हिंदुस्तान के किसान का धर्म कुछ भी हो, उसके मौसम एक हैं। बैसाख चल रहा था और मेवात में यह शादियों का मुकद्दस मौसम था।"[8] हिंदुस्तान का किसान का धर्म मिट्टी से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है जिसे मजहब की दीवारें अलग नहीं कर सकतीं। हिंदुस्तान के लोकमानस में साधारण रीति-रिवाज पूरी तरह से भारतीय है जिसे किसी भी रूप में नहीं अलगाया जा सकता। आज भी मुसलमान बहन शादी के समय 'रघुवीर भैया' से भात लाने का आग्रह करती हैं। 'रघुवीर' शब्द साँझी संस्कृति का उदाहरण है। काफिर होने का सूचक नहीं। सलमा इस्लाम के संकीर्ण रूप का विरोध करते हुए कहती है, "इस्लाम जैसा मजहब किसी मुल्क की सरहदों में कैद कैसे किया जा सकता है।"[9] और शायद इसलिए इस्लाम की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसका उद्भव भले ही अरब मुल्क में हुआ हो किंतु वह धरती के जिस-जिस हिस्से में फैला वहाँ की तहजीब को अपने भीतर जज्ब करता गया। इसी कारण कश्मीरी मुसलमान और ईरानी मुसलमान मजहबी रूप से एक होते हुए भी अपनी संस्कृति में अलग-अलग ढंग से ढले हुए हैं। लल्लेश्वरी और हब्बा खतून को कश्मीर में नहीं बाँटा जा सकता क्योंकि इनके द्वारा रचा गया साहित्य भारत की मिली-जुली तहजीब का महत्वपूर्ण हिस्सा है। लेखक का मानना है कि संस्कृति गत्यात्मक होती है और सतत परिवर्तनशील होने के कारण सनातन भी। भारतीय इतिहास में अकबर के बाद दाराशिकोह ने इस साँझी विरासत में एक नया अध्याय जोड़ने की कोशिश तो की थी किंतु औरंगजेब की स्वार्थांधता की तलवार ने इसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए और भारतीय तहजीब की सरहदों पर सांप्रदायिकता की दीवारें गढ़ दीं। दाराशिकोह के सिर कलम होने के साथ ही हिंदुस्तान की बनती हुई तहजीब का भी सिर अपने धड़ से जुदा हो गया, "इस मुल्क की मिट्टी में वह ताकत और तासीर है कि यह सबको जज्ब कर लेती है।"[10] आज नफरत की घटाएँ चारों ओर उमड़ रही हैं। भारत आतंकवाद, जातिवाद एवं अलगाववाद जैसे समस्याओं से लगातार जूझ रहा है। ऐसे में कमलेश्वर की यह विश्वव्यापी रचना एक नई रोशनी देती है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए डॉ. दयाशंकर ने लिखा है, "यदि भारत के इतिहास पर नजर डालें तो पाकिस्तान (इस्लामपरस्ती) मानसिकता के तुरानी खलीफा, सिर हिंद में मुल्ला मौलवी, शिबली नोमानी, शाही काजी, अब्दुल अजीज, शाहजहां और औरंगजेब हैं तो उनकी मानसिकता को नकारने वाले अकबर, जहाँगीर, दाराशिकोह अनेक सूफी आदि उन्हीं के आगे या समय में मौजूद हैं जो इन्सान और वतनपरस्ती, साझेवादी और भाईचारे को सबसे बड़ी दौलत समझते हैं।"[11] उपन्यास का अंधा कबीर पोखरन में बोधिवृक्ष को रोपना चाहता है ताकि एक नई मानवीय संस्कृति की जड़ें वहाँ के सारे विष को सोख ले और दिन-प्रतिदिन देशों के बीच बढ़ते हुए खूनी संघर्ष विराम पा सके। कमलेश्वर की यह विश्वव्यापी सोच ही इस रचना को कालजयी बनाती है।

## संदर्भ सूची

1. डॉ. शिवदास, भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, शारदा प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण : 1993, पृष्ठ संख्या - 19

2. द्विवेदी, डॉ. मुकुंद, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-9, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली -110002, संस्करण : 2007, पृष्ठ संख्या-199-200

3. वत्स, डॉ. ज्योति, हिंदी उपन्यास : सांस्कृतिक परिदृश्य, कल्पना प्रकाशन, जहाँगीरपुरी, संस्करण : 2012, पृष्ठ संख्या - 13

4. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली -110006, संस्करण : 2015, पृष्ठ संख्या - 182

5. वही, पृष्ठ संख्या - 79

6. वही, पृष्ठ संख्या - 102-103

7. वही, पृष्ठ संख्या - 142

8. वही, पृष्ठ संख्या - 328

9. वही, पृष्ठ संख्या - 110

10. वही, पृष्ठ संख्या – 223

11. संपादक--पटेल, डॉ. एम.बी. एंव मेहरा, डॉ. दिलीप, साठोत्तरी हिंदी उपन्यास, ज्ञान प्रकाशन, कानपुर--208011, संस्करण : 2009, पृष्ठ संख्या – 14

# खिड़की के सहारे खुलता जीवन का रहस्य
## दीवार में एक खिड़की रहती थी के संदर्भ में

**शुभम**
शोधार्थी (पीएच. डी.),
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक, सिक्किम

**सारांश**
*विनोद कुमार शुक्ल अपने शैली के विशिष्ट रचनाकार हैं। भाषा और शिल्प -वैशिष्ट्य के स्तर पर उनके उपन्यास अन्यतम है। 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास में रघुवर प्रसाद और सोनसी की प्रणय –कथा है जिसमें पूरा परिवेश गुंजायमान है। पात्रों का संवाद पेड़ –पौधे, हाथी, पक्षियों आदि से होता है। यहाँ एक ठेठ भारतीय प्रेम कथा का आदर्श हमारे सामने आता है। तमाम पात्र अभावग्रस्तता से जूझते हुए भी जीवन को खुलकर जीते हैं। कोई सामाजिक या राजनैतिक उथल – पुथल की माँग पूरे उपन्यास में कहीं नहीं मिलता। होने और न होने का रहस्य उस 'खिड़की' के सहारे खुलता है। उपन्यास में प्रकृति और मानव का जो संबंध दर्शाया गया है उसमें दोनों एकाकार हो गए हैं। कविताई भाषा और प्रयोगधर्मी शिल्प के कारण इस उपन्यास के कथ्य पर प्रायः कम ही बात होती है। अपने युगीन संत्रास, रोष, बुराइयों आदि के स्थान पर सभी पात्रों में जीवटता के गुण के कारण इस उपन्यास को रेणु की परंपरा से भी जोड़कर देखा जाता है। भाषा और संवादशैली के कारण उपन्यास काव्यमय प्रतीत होता है।*

**बीज शब्द**
काव्यात्मक भाषा, निम्नमध्यमवर्गीय जीवन, जादुई यथार्थवाद

'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास में एक निम्नमध्यमवर्गीय पात्र रघुवर प्रसाद की कहानी है। रघुवर प्रसाद इस देश के बहुसंख्य आबादी के नायक हैं जो सारी कठिनाइयों से लड़ते हुए अपने सपनों के भरोसे जीते हैं। भूमंडलीकरण के बाद हमारे देश में सामाजिक और पारिवारिक स्तर पर कई बदलाव आए। बाजारवाद ने निम्न तबके के लोगों को भी बड़े बड़े सपने देखने के लालच दिए , उपन्यास में हाथी का किरदार उसी सपनों की दुनिया की पहली सीढ़ी है। रघुवर प्रसाद प्रायः इससे बचने की कोशिश करते हैं परन्तु उनसे हाथी पर बैठने का मोह नहीं जाता। उपन्यास में मानवीय पात्रों के साथ-साथ पेड़, पौधे, हाथी, जुगनू आदि से भी संवाद स्थापित किया गया है। उपन्यास में छह अलग अलग शीर्षक दिए गए हैं। प्रत्येक शीर्षक उस भाग का काव्यात्मक सारांश प्रतीत होता है –

1. हाथी आगे आगे निकलता जाता था और पीछे हाथी की खाली जगह छूटती जाती थी। [1]
2. दृष्टि के जल से बूझकर सूर्य चन्द्रमा हो गया था। और अल्पना का बना हुआ कमल पानी में तैर रहा था।[2]
3. दोनों जागे थे। और सबकुछ नींद में झूम रहा था । तालाब नींद में तालाब था। आकाश नींद का आकाश था।[3]
4. पेड़ों के हरहराने की आवाज में चिड़ियों के चहचहाने की आवाज बैठी थी।[4]
5. रात के बीतने से जाता हुआ अँधेरा शायद हाथी के आकार में छूट गया था। ज्यों ज्यों सुबह होगी हाथी के आकार का अँधेरा हाथी के आकार की सुबह होकर बाकि सुबह में घुलमिल जाएगी।[5]
6. रात भर अँधेरे का इतना साथ था कि दिन का उजाला बहुत उजाला लग रहा था। लगा कि एक सूर्य से इतना उजाला नहीं हो सकता ,दो सूर्य होंगे।[6]

इस उपन्यास में प्रकृति और मनुष्य के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं है। दोनों एक दूसरे के जीवन में बेरोकटोक आवाजाही करते हैं। 'मिथक की रचना उस समय हुई जब मानव और प्रकृति के बीच की विभाजक रेखाएँ स्पष्ट नहीं थी-दोनों एक सार्वभौम जीवन में सहभागी थे। वे परस्पर सहयोग एवं संघर्ष के सूत्रों से बंधे हुए थे और चेतन मानव का मन अज्ञात रूप से प्रकृति की घटनाओं को अपने जीवन की घटनाओं तथा अनुभवों के माध्यम से समझने का प्रयास करता था'[7]

उपन्यास में वर्णित प्रकृति-चित्रण किसी प्राचीन पौराणिक कथा की तरह ही है । रघुवर प्रसाद और सोनसी के जीवन में उस छोटे परिवेश की ही महत्वपूर्ण भूमिका है । दैनिक जीवन की हर घटना पेड़ पौधों, पक्षियों आदि के साथ ही पूरी होती है । उपन्यास में ठंडी हवा बहती है, जंगली फूलों की गंध है, चिड़ियों का कलरव, पेड़ ,फूल ,दूब ,गंध ,रँगोली ,गोबर की चौक ,गीली मिट्टी की लेप ,तालाब ,इंद्रधनुष सब हैं । जब कोई पात्र बोलता है तो पूरे वातावरण को बोलते हुए सुना जा सकता है । इस क्रम में प्रकृति और मानव के बीच कोई भेद नहीं रह जाता है । 'आम के पेड़ के शरीर का रंग और नीम के पेड़ के शरीर का रंग एक जैसा काला था ।'[8]

विनोदकुमार शुक्ल दैनिक अनुभवों के रचनाकार हैं। उनकी दृष्टि में छोटी छोटी घटनाएं भी हमारे जीवन को भीतर तक प्रभावित करती है । रघुवर प्रसाद के अगल बगल के लोग हर सुख दुख में उनके साथ होते हैं। चाहे घर से पापा, मम्मी, छोटू का आना हो या साधु के द्वारा हाथी को लावारिस रघुवर प्रसाद के घर के पास छोड़ जाना, हर समय पड़ोसियों की महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज होती है। अतिथियों के सत्कार में पूरा मुहल्ला शामिल रहता है । नब्बे के दशक का सामाजिक विघटन यहाँ लोगों के मेलजोल को प्रभावित नहीं करता। विनोदकुमार शुक्ल अपने सभी पात्रों को इससे बचा ले जाते हैं। उपन्यास की गहराई में रघुवर प्रसाद और सोनसी की प्रणय कथा है। ऐसी कथा जिसमे कोई शोर –कोलाहल नहीं है। हर परिस्थिति में दोनों खुश हैं । यद्यपि सोनसी का स्वरूप गँवई पत्नी की है किंतु वह सारी रूढ़ियों से मुक्त है । सोनसी में एक आदर्श भारतीय नारी की संकल्पना परिलक्षित होती है –

**विनोदकुमार शुक्ल दैनिक अनुभवों के रचनाकार हैं । उनकी दृष्टि में छोटी छोटी घटनाएं भी हमारे जीवन को भीतर तक प्रभावित करती है । रघुवर प्रसाद के अगल बगल के लोग हर सुख दुख में उनके साथ होते हैं । चाहे घर से पापा, मम्मी, छोटू का आना हो या साधु के द्वारा हाथी को लावारिस रघुवर प्रसाद के घर के पास छोड़ जाना, हर समय पड़ोसियों की महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज होती है । अतिथियों के सत्कार में पूरा मुहल्ला शामिल रहता है । नब्बे के दशक का सामाजिक विघटन यहाँ लोगों के मेलजोल को प्रभावित नहीं करता । विनोदकुमार शुक्ल अपने सभी पात्रों को इससे बचा ले जाते हैं ।**

'रघुवर प्रसाद को मालूम नहीं था कि सोनसी जाग रही है , सोनसी को मालूम था कि रघुवर प्रसाद जाग रहे हैं।'[9] दोनों के मिलन के समय भी प्रकृति वहाँ विद्यमान है। पेड़, पौधे, फूल सब उन दोनों की खुशियों में झूमते हैं ।

विनोदकुमार शुक्ल ने हिंदी उपन्यास परंपरा में साठ के दशक में ऊपजी एक किस्म की नकारात्मकता को खारिज करते हुए एक ऐसी शैली विकसित की जिसे कई समीक्षकों द्वारा 'जादुई–यथार्थवाद' की संज्ञा दी है । लेकिन इस शैली से उपन्यास का कथ्य कहीं से भी कमजोर नहीं होता । 'उनके उपन्यासों का प्रभाव भले ही जादुई कहा जा सके ,उनकी शैली और कथ्य में कोई जादुई चालाकी ,तरकीब या नियत नहीं है।'[10]

भाषा-प्रवाह के कारण उपन्यास में काव्यात्मक तत्व हावी रहता है । वाक्य छोटे -छोटे हैं । संवाद अनायास ही कविता बन जाती है।

"अच्छी गरम चाय थी। "
गाढ़ा गरम दूध था –पत्नी ने सुना ।
"मैं भी तुम्हारे साथ घूमने चलूँगी "
पत्नी ने कहा ।
मैं भी तुम्हारे साथ घुड़सवारी करूँगी –अबकी बार रघुवर प्रसाद ने सुना।[11]

रघुवर प्रसाद सोनसी के साथ अक्सर खिड़की के उस पार जाते हैं । एक बार विभागाध्यक्ष को भी लेकर जाते हैं । विभागाध्यक्ष को इस जगह से मोह भी होता है और आश्चर्य भी ।

'बड़ी सुंदर जगह है रघुवर प्रसाद । यह जगह मुझे मालूम नहीं थी। '[12]

रघुवर प्रसाद और सोनसी को नियमित रूप से एक बुढ़िया मिलती है । वह दोनों को नहाने के उपरांत चाय बनाकर देती है । दोनों इसके बाद वापस पुराने कमरे में आ जाते हैं । उपन्यास में खिड़की निम्न-मध्यमवर्गीय समाज के सपनों का प्रतीक है । वे सारे स्वप्न जो वास्तविक जीवन में पूरे नहीं हो सकते उसे खिड़की के उस पार देखा जा सकता है । रघुवर

प्रसाद के पास एक छोटा सा कमरा ही है जिसमें वो अपनी पत्नी के साथ रहते हैं । गाँव से अक्सर उनके पापा, मम्मी, भाई छोटू आते रहते हैं । उनकी सारी ख्वाहिशें जब उस कमरे में पूरी नहीं होती तब वो पत्नी के साथ उस तरफ चले जाते हैं । खिड़की मानव मन का ही प्रतीक है जिसमें अपने अधूरे सपनों को देखा जा सकता है।

'इस उपन्यास में खिड़की का अर्थगर्भ प्रतीक है । यह खिड़की दीवार में ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति के मन में भी होती है। मन की खिड़की ही हृदय देश के मनोज्ञ मनोरोग से साक्षात्कार कराती है।'[13]

रघुवर प्रसाद और सोनसी के जीवन में उस खिड़की के अलावा हाथी भी है जिसको लेकर कथ्य में उत्सुकता बनी रहती है । हाथी के सहारे ही लेखक वास्तविक भवभूमि से ऊपर उठता है । रघुवर प्रसाद के स्वप्नों की शुरुआत भी वहीं से होती है । इन सारे स्वप्नों के अर्थ लगाने से ही पात्र के मनोभावों से जुड़ा जा सकता है। उपन्यास में विनोदकुमार शुक्ल ने न होने को होने में व्यक्त किया है हमलोगों को उस होने को न होने के अर्थ में समझना चाहिए । रघुवर प्रसाद और सोनसी का जो रोमांस है वह उनकी अधूरी इच्छाएं हैं ।

'विनोदकुमार शुक्ल जिसे नहीं होना कहते हैं, वह सामने नहीं है मन में है । वह वांछित है ,यथार्थ का ही एक संभव रूप है । स्वप्न से मिलता-जुलता।'[14]

पूरे उपन्यास में किसी भी राजनैतिक या सामाजिक परिवर्तन की माँग नहीं है । विनोदकुमार शुक्ल ने जिस परिवेश को गढ़ा है वह अपने युगीन परिवर्तनों में अक्षुण्ण है । महाविद्यालय या शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ में भी छिटपुट व्यंग्य ही हैं । विनोदकुमार शुक्ल की शैली में आदिवासी रहन-सहन, खानपान, वेशभूषा आदि स्वतः विद्यमान है।

'यूं तो इस उपन्यास के केंद्र में एक निम्न मध्यमवर्गीय परिवार है लेकिन इस परिवार के मुखिया रघुवर प्रसाद की चिंताएं कुछ विचित्र किस्म की है। कभी लावारिस साइकिल का मिलना उनकी समस्या बनती है तो कभी हाथी का लावारिस हो जाना।'[15]

'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास अपने कथ्य ,शिल्प एवं काव्यमयी भाषा तीनों ही स्तरों पर एक विशिष्ट उपन्यास है ।

**संदर्भ ग्रंथ :-**


1. शुक्ल, विनोदकुमार, 'दीवार में एक खिड़की रहती थी', (नयी दिल्ली :वाणी प्रकाशन,2019),पृष्ठ 11
2. वही, पृष्ठ 36
3. वही, पृष्ठ 59
4. वही, पृष्ठ 82
5. वही, पृष्ठ 108
6. वही, पृष्ठ 139
7. डॉ नगेन्द्र, 'मिथक और साहित्य', (नयी दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1987),पृष्ठ 7
8. शुक्ल, विनोदकुमार, 'दीवार में एक खिड़की रहती थी',(नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन,2019),पृष्ठ 14
9. वही, पृष्ठ 66
10. खरे, विष्णु , "हिंदी का अपना पहला 'नेटिव जीनियस", 'पाखी',1-2 (अक्टूबर-नवंबर,2013),पृष्ठ 27
11. शुक्ल,विनोदकुमार, 'दीवार में एक खिड़की रहती थी',(नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन,2019),पृष्ठ 35
12. वही, पृष्ठ 46
13. तिवारी,रामजी, 'रचना-मीमांसा', (नई दिल्ली: सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन,2017),पृष्ठ 157
14. त्रिपाठी,विश्वनाथ, "नहीं होने में क्या देखते हैं", 'पाखी',1-2(अक्टूबर-नवंबर,2013),पृष्ठ 22
15. यादव,वीरेंद्र, "राजनीतिक निर्वासन या कलात्मक उपलब्धि", 'पाखी',1-2(अक्टूबर-नवंबर,2013),पृष्ठ 106


# हिंदी

**हिंदी जिसके मानकीकृत रूप को मानक हिंदी कहा जाता है, विश्व की एक प्रमुख भाषा है एवं भारत की एक राजभाषा है। केन्द्रीय स्तर पर भारत में दूसरी आधिकारिक भाषा अंग्रेज़ी है। यह हिंदुस्तानी भाषा की एक मानकीकृत रूप है जिसमें संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक है और अरबी-फ़ारसी शब्द कम हैं। हिंदी संवैधानिक रूप से भारत की राजभाषा और भारत की सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है क्योंकि भारत के संविधान में किसी भी भाषा को ऐसा दर्जा नहीं दिया गया है। एथनोलॉग के अनुसार हिन्दी विश्व की तीसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। विश्व आर्थिक मंच की गणना के अनुसार यह विश्व की दस शक्तिशाली भाषाओं में से एक है।**

# सेवाभाव से प्रेरित पत्रकारिता
## गांधी के विशेष संदर्भ में

**नंदिनी हर्षदराय द्विवेदी**
शोधार्थी, पत्रकारिता एवम् जनसंचार विभाग,
गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, (गुजरात)

**डॉ. विनोद कुमार पांडेय**
प्रोफेसर, पत्रकारिता एवम् जनसंचार विभाग,
गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, (गुजरात)

**सारांश:**
*महात्मा गाँधी का नाम लेते ही एक हाड़-मांस के पतले-दुबले व्यक्ति नजर के सामने आता है। जिसके बदन पर एक धोती, एक छड़ी, चश्मा और हाथ में अक्सर कागज और कलम। महात्मा गांधी को राष्ट्र बापू के नाम से सम्बोधित करता है। महात्मा गाँधी की पत्रकारिता में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, विषयों पर गम्भीर चर्चायें होती थी। गांधीजी एक प्रतिष्ठित पत्रकार थे। दक्षिण अफ्रिका में अपने प्रवास के दौरान वहाँ बसे अश्वेत भारतीयों के साथ अमानवीय व्यवहार को देखकर उनका मन बहुत द्रवित हुआ। वह यथास्थिति से लोगों को अवगत कराने के लिए उन्होंने इंडियन ओपिनियन नामक समाचार पत्र सेवाभाव से शुरू किया। उनकी आवाज बनने की कोशिश की जो पत्रकारिता का मूल धर्म सेवा था। महात्मा गांधी अखबार को विचारों को फैलाने का सबसे ताकतवर जरिया मानते थे। उन्होंने कभी भी पत्रकारिता को अपनी आजीविका का आधार बनाने की कोशिश नहीं की, उनका कहना था कि- ""पत्रकारिता कभी भी निजी हित या आजीविका कमाने का जरिया नहीं बनना चाहिए और अखबार या संपादक के साथ चाहे जो भी हो जाय, लेकिन उसे अपने देश के विचारों को सामने रखना चाहिए, नतीजे चाहे जो भी हों।" महात्मा गांधी एक मिशनरी पत्रकार थे और वे मिशन की सफलता के लिए पत्रकारिता एक अत्यंत सशक्त माध्यम है ऐसा समझते थे। गांधी को अपनी तेज-तरार एवं आक्रमक लेख के कारण सहन भी करना पड़ा| फिर भी पत्रकारिता धर्म को नहीं छोडा | उन्होंने 'नवजीवन', 'हरिजन' व 'यंग इंडिया' नामक विचारपत्रों का प्रकाशन किया| जिसमें विविध विषयों में सेवाभाव प्रकाशित किये| जिससे देश को नई दिशा मिली।*

**बीज शब्द :**
गाँधी, पत्रकारिता, सेवा, सामाजिक, विचार, लोककल्याण।

**प्रस्तावना:**
*""खुद को खोजने का सबसे अच्छा तरीका है, खुद को दूसरों की सेवा में खो दो।"* – महात्मा गाँधी

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी एक राष्ट्रवादी नेता तथा सत्य और अहिंसा के पुजारी थे| भारतीय इतिहास में सन् 1919 से 1947 तक के युग को गाँधी का युग कहा जाता है| इसका कारण गाँधीजी ने राष्ट्रीय जागरण को राष्ट्रव्यापी बनाया बल्कि देश के सामाजिक सिद्धांतों की अमिट छाप छोड़ दी है और देश की भावी प्रगति के लिए एक मार्ग निर्धारित किया| मोहनदास करमचंद गांधी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व इतना बहुआयामी, बहुभाषी, बहुरूपी, बहु- क्षेत्रीय,

बहुराष्ट्रीय तथा बहुउद्देशीय था कि उस काल-खंड में उन जैसा कोई और व्यक्ति दिखाई नहीं देता (गोयनका, २०१६)| पत्रकारिता के प्रारंभिक दौर से लेकर अंतिम समय तक उन्होंने तन-मन और धन से भारतीय ही नहीं विश्व पत्रकारिता को उपकृत कर एक नई सोच और नई दिशा प्रदान की| निस्संदेह गाँधी और गाँधी के समय को जानने के लिए उनकी पत्रकारिता को जानना आवश्यक है| जब महात्मा गांधी के पत्रकारत्व के विषय में सोचा, स्मरण रहता है कि देश और काल की कसौटी पर, ईश्वरीय विश्वास और श्रम में अटूट श्रद्धा के साथ, बिना किसी को सताए अपने प्रयत्न को शोध बनाते जाना गांधीजी के पत्रकारत्व की विशेषता थी| विश्व में ऐसे कितने ही पत्रकार हैं, जिन्होंने यद्यपि किसी पत्र का संपादन नहीं किया है परंतु लोग उन्हें पत्रकार मान सकते हैं| समाज को समय की कसौटी पर कसने वाला कोई भी हो, वह पत्रकार कहलाने के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता| किंतु महात्मा गांधी तो स्वयं 'यंग इंडिया', 'नवजीवन', 'हरिजन' और 'हरिजन-सेवक' का संपादन और प्रकाशन भी करते रहे| गांधीजी से महान संपादक कदाचित इस देश में पैदा नहीं हुआ| वे महज सुलझा देने की दृष्टि से किसी समस्या को नहीं पकड़ते थे| समस्या ढूंढना और सुलझाना, व्यावहारिक सतह पर सुलझाना उनकी जनसेवा की परंपरा का एक महान अंग बन गया था| इसीलिए उनके 'यंग इंडिया', 'हरिजन', 'हरिजन-सेवक' में प्रकाशित होने वाले लेखों को लोक प्रकाशित होते न होते अपने पत्रों में छाप दिया करते थे| इस देश के जनजीवन का उद्धार करने की दृष्टि से|

**उदेश्य:**

1. गांधीजी की पत्रकारिता का अध्ययन करना|
2. गांधी के सेवाभाव को जानना|
3. गाँधीजी द्वारा की गई पत्रकारिता में विविधता को पहचानना|

**संदर्भ साहित्य का अध्ययन:**

गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा के 267 पृष्ठ में उल्लेख किया है कि – 'इंडियन ओपिनियन' के पहले महीने से कामकाज से ही मैं इस परिणाम पर पहुंच गया था कि समाचार पत्र सेवाभाव से ही चलाने चाहिए| समाचारपत्र एक जबरदस्त शक्ति है, उसी प्रकार कलम का निरंकुश प्रवाह भी नाश की सृष्टि करता है |

डॉ. सुधीर कुमार अपने आर्टिकल "धर्म और राजनीति पर महात्मा गांधी" में गांधीजी के प्रिय भजन के लिए लिखा है की- "वैष्णव जन तेने कहिये जे पीर पराई जान रे...." यह गांधीजी का अनूठा भजन था, जिसके द्वारा यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि गांधीजी का धर्म दूसरों की मदद करना, सेवाभाव और कल्याणकारी था|

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय की रीडर डॉ. सुमन जैन अपने पुस्तक "गाँधी विचार और साहित्य" के आमुख में अपनी और से लिखती है कि- "गांधीजी के लेखन में पत्रकारिता छलकती है| समाज की ऐसी कोई समस्या नहीं होगी, जहाँ उनकी कलम न चली| मूलतः गांधीजी पत्रकार हैं| संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रा-वृतांत आदि अनेक विधाएँ उन्होंने अपनायीं (जैन, 2010)|"

समाजशास्त्री आनंद कुमार 'गांधीजी संवादी पत्रकार थे' इस लेख में वे कहते हैं, "एक पत्रकार के रूप में गांधीजी किसी भी तरह के दबाव से परे थे| उनकी पत्रकारिता भी नैतिकता और सत्य के आग्रह से संचालित थी| क्षेत्रीय भिन्नताओं के बावजूद उनके लिए न तो भाषाएं दीवार खड़ी कर सकीं और न ही वर्गीय दबाव, उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य कर सके|" आनंद कुमार अपने लेख में बताते हैं, "गांधीजी पाठक को अपना स्वामी मानते थे| एक पत्रकार के रूप में गांधीजी की विशेषता यह थी कि वे अपने स्वामी यानी अपने पाठकों को उनके दुर्गुणों से अवगत कराते थे, वे उनकी बुराइयों के बारे में बताने में जरा भी नहीं कतराते थे| जैसे- छुआछूत, बालविवाह, औरतों को न पढ़ाना, कोढ़ियों को उपेक्षित करना, यह सब समाज के दुर्गुण थे| लेकिन गांधीजी उस समाज के साथ संवाद करके उक्त समस्याओं का समाधान करते थे|" इससे दो बात निकलती हैं, पहली यह कि पाठकों के प्रति मीडिया की निष्ठा| दूसरी बात यह कि क्या पत्रकारिता समाज को उसकी बुराइयों से अवगत कराके उसके समाधान की दिशा में काम कर रही है या फिर पत्रकारिता पर एक दबाव काम कर रहा है कि वह सब कुछ अच्छा दिखाए (Essay, 2019)|

**महात्मा गाँधी की पत्रकारिता का प्रारंभ:-**

गांधीजी जब तक भारत में रहे थे तब तक उन्होंने शायद ही कोई पत्र पढ़ा हो| उनके मन में पत्रकारिता के अंकुर का प्रस्फुटन लंदन में हुआ| वहाँ वकालत की पढ़ाई के दौरान 'डेली न्यूज', 'डेली टेलीग्राफ' और 'पाल माल गजेट' के प्रभावित होकर सन् 1888 ई. में वह 'लंदन वेजीटेरियन सोसायटी' के सदस्य बने| संस्था के पत्र 'दि वेजीटेरियन' के लिए उन्होंने दर्जन भर लेख लिखे| 'वेजिटेरियन' में उनका पहला लेख शीर्षक – 'इंडियन वेजीटेरियन' अर्थात् 'भारतीय अन्नाहारी' 7 फरवरी 1891 को प्रकाशित हुआ| दक्षिण अफ्रीका की राजनीतिक व्यवस्था की रिपोर्टिंग के लिए उनको वेजिटेरियन का प्रतिनिधि नियुक्त किया| यह गांधीजी की पत्रकारिता की शुरुआत थी|

**तीन घटनाओं ने गांधी को किया लिखने को मजबूर किया :-**

दक्षिण अफ्रीका में तीन घटनाएं घटीं, जिनमें उन्हें मारा पीटा और अपमानित किया गया था| इन्हीं घटनाओं ने उनकी लेखकीय प्रतिभा को जगाया| 1993 की वह प्रसिद्ध

घटना थी, प्रीटोरिया रेलवे स्टेशन पर प्रथम श्रेणी का टिकट लेकर ट्रेन में बैठे ही थे कि उन्हें धक्का देकर गाड़ी से नीचे उतार दिया गया| दूसरी घटना प्रेसीडेंट क्रूगर के निवास के पास पैर की ठोकरें मारी गई| तीसरी घटना 1897 की थी, जब वे भारत से डरबन पहुँचे थे, तो गोरों की भीड़ ने उन पर हमला किया| तीनों बार वे रंगभेद के शिकार हुए थे| बार-बार अपमानित होना उन्हें कुली, कुली-बैरिस्टर कहते थे, ये उनका अपमान नहीं लेकिन सभी काले लोगों का अपमान था| यह काले-गोरे का यह भेदभाव और अपमान गांधीजी को बुरी तरह चुभा था, इस पर गंभीरता से विचार कर रहे थे और इसीलिए उनका लेखन उनकी पीड़ा की अभिव्यक्ति बन गया|

**सफल पत्रकार : महात्मा गांधी:-**

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के अनेक रूप हैं- सेवाधारी, राजनेता, देशभक्त, समाज-सुधारक, सांप्रदायिक एकता के अग्रदूत, अस्पृश्यता निवारण के मसीहा थे और वह पत्रकार भी थे| गांधीजी ने समय के प्रति अपने सेवाभाव को अपनी विचारधाराओं को संवाद रूप में अपने पत्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किया| महात्मा गांधी के पत्रकार रूप का महत्व कम नहीं है, बल्कि यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि गांधी को महात्मा बनाने में उनकी पत्रकारिता को सबसे अधिक श्रेय मिलना चाहिए| गांधीजी का पत्रकारात्व बहुत आयामी था| पत्रकार के रूपमें गांधीजी ने देश को जागृत्त किया| जन-जन में राष्टवाद फैलाया, ग्रामोत्थान की बातें की, खादी का प्रचार-प्रसार किया, कोई भी विषय ऐसा नहीं था जो पत्रकार के रूप में नहीं लिखा हो|

दक्षिण अफ्रीका में 3 वर्ष तक गांधी वकील से अधिक पत्रकार के रूप में लोकप्रिय थे| वहां के समाचार-पत्रों के सम्मानित स्तंभकार थे| उन्होंने अक्टूबर, 1899 में स्वतंत्र पत्रकार के रूप में बोअर युद्ध मैदान में जाकर 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के लिए समाचार भेजे थे| 'प्रिटोरिया न्यूज़' के संपादक मि. विअर स्टेट ने गांधी द्वारा युद्ध स्थल से भेजी गई रपटों और चित्रों का प्रकाशन किया था| दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी ने सन् 1903 में 'इंडियन ओपिनियन' आरंभ किया और वे जब तक वहाँ रहे, इस समाचार-पत्र को निकालते रहे| जब भारत आए तो उन्होंने 'नवजीवन', 'यंग इंडिया' तथा 'हरिजन' का संपादन-प्रकाशन किया और इस प्रकार लगभग 4 दशकों तक पत्रकारिता से सीधे रुप से जुड़े रहे| गुजरात से सन् 1919 में प्रकाशक महादेव देसाई और मुद्रक शंकरलाल बैंकर के सहयोग से अंग्रेजी में सप्ताह की शुरुआत की| एक ही वर्ष में यह पत्र असहयोग आंदोलन का प्रमुख पत्र बन गया|

गांधी के चिंतन और विचारों का संसार कितना बड़ा है| वे जान चुके थे कि करोड़ों पाठकों, चिंतकों एवं स्वतंत्रता प्रेमियों तक समाचार-पत्र के माध्यम से ही पहुंचा जा सकता है| उन्होंने अपने कार्यक्रमों तथा विचारों को प्रसारित तथा प्रचारित करने के लिए सदैव ही समाचार-पत्रों का सहारा लिया| वे समाचार-पत्र के महत्व को जानते थे तथा उनकी शक्ति को पहचानते थे, इसी कारण उन्होंने समाचार पत्रों का संपादन प्रकाशन किया तथा लगभग 4 दशकों तक पत्रकार की भूमिका निभाई|

गांधीजी बताते है कि – "पत्रकारिता मुख्य ध्येय होना चाहिए सेवा| पत्र का उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि लोग-भावना को समझकर उसकी अभिव्यक्ति की जाए| पत्रकारिता लोकमत बनाने का एक साधन है| मैंने तो अपने जीवन के ध्येय की पूर्ति के लिए एक साधन के रूप में पत्रकारिता को अपनाया है, पत्रकारिता के लिए नहीं| पत्रकारिता एक सुंदर कला है| पर आजकल उसका दुरुपयोग बहुत होता है| निश्चय ही यह एक शक्ति है, पर इस शक्ति का बुरा इस्तेमाल एक अपराध है (गाँधी, २००३)|

**गाँधी की पत्रकारिता:-**

स्वाधीनता के संघर्ष में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की पत्रकारिता का वर्णन भारत की वर्तमान पीढ़ी के समक्ष अधिक रेखांकित नहीं हुआ है। उनकी पत्रकारिता उनके इंग्लैड प्रवास के समय ही आरम्भ हो गई थी जब उन्होने शाकाहार आन्दोलन के लिये वेजिटेरियन पत्रिका में लेख लिखा था। उन्होने इंडियन ओपिनियन समाचार-पत्र निकाला जिसमें उन्होने पत्रकारिता के उद्देश्य को स्पष्ट किया। उनका कहना था कि जन-भावनाओं को जाग्रत करना पत्रकारिता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य है और दमन का मुकाबला लेखनी ही कर सकती है। अपने जीवन के संघर्ष के दिनों में उन्होंने पत्रकारिता की निर्भीकता का महत्व बराबर बनाये रखा। भारत आने पर उन्होने पत्रकारिता को और अधिक मुखरित किया और इस क्रम में कई पत्र निकाले जिसमें 'यंग इंडिया', 'हरिजन', 'नवजीवन', 'बाम्बे क्रानिकल' विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। गांधीजी की पत्रकारिता के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय बात सत्य की अभिव्यक्ति थी। विश्व प्रसिद्ध 'कल्याण' पत्रिका निकालने से पूर्व श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार जी जब महात्मा गांधी से आशीर्वाद लेने पहुँचे गांधी जी ने उन्हें सुझाव दिया कि पत्र के स्तर और स्वरूप की रक्षा के लिये दो बातें आवश्यक हैः पहली पत्रिका में विज्ञापन मत छापना। दूसरी पुस्तक समीक्षा प्रकाशित नहीं करना।

गाँधी के व्यक्तित्व के विविध पहलुओं से भारतीय जनमानस आप्लावित रहा है| गांधीजी ने 'नवजीवन', 'यंग इण्डिया', 'हरिजन' जैसे पत्रों का प्रकाशन किया और इसके माध्यम से एक अलग प्रकार की पत्रकारिता की नींव भी रखी| जिससे समाज में सेवा का सन्देश पहुँचाया गया| इस शोधपत्र के माध्यम से गाँधी के सेवाभाव के विचारों का रेखाचित्र यहाँ प्रस्तुत किया है| शोधपत्र का हेतु गाँधी की सेवा के विचारो का अध्ययन करना है| गांधीजी का पत्रकारात्व की विशेषताओं को उजागर करना भी शोध का लक्ष्य है| यह शोध कार्य

पत्रकारिता के द्वारा गांधी की सेवा के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास भी है|

**पत्रकारिता में गांधी का सेवा स्वरूप:-**

सन् १८८३ में गांधी जब अफ्रीका गए| तब डरबन में भारतीयों को मताधिकार से वंचित कराए जाने की घटना से क्षुब्ध होकर वहां रह रहे भारतीयों को मत का अधिकार दिलाए जाने के संबंध में उनके 8 लेख लंदन के 'टाइम्स' ने प्रकाशित किए| वह आँखों देखे गिरमिटिया शोषण, अपमान और प्रताड़ना के दृश्यों ने उनके मन में मानवता के ऐसे बीज बोए, जिनका प्रस्फुटन अफ्रीका से प्रकाशित 'प्रिटोरिया न्यूज़', 'नेटाल मरकरी', 'नेटल एडवरटाइजर' में चली लेखनी के द्वारा हुआ| गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के डरबन, जोहान्सबर्ग शहरों से 'इंडिया' पत्र का प्रकाशन किया| गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के डरबन, जोहान्सबर्ग शहरों से 'इंडिया' के संवाददाता नियुक्त होकर वहाँ चल रहे मानव संघर्ष को निर-क्षीर निर्णय की तरह उजागर किया| 1899 ई. में गांधीजी ने स्वतंत्र पत्रकारिता आरंभ की| बोअर युद्ध मैदान में जाकर उन्होंने हताहत सैनिकों की सेवा ही नहीं की बल्कि 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के लिए रिपोर्टिंग भी की| अंग्रेजी पत्रों ने भी युद्धभूमि पर उनके चित्रों और रपटों को प्रकाशित किया| वह दुनिया के पहले रिपोर्टर थे जिन्होंने वर्णनात्मक पत्रकारिता की नीरसता को तोड़कर संवेदनशील दृष्टिकोण से युद्ध कथा की रिपोर्टिंग की| उनकी रिपोर्टिंग स्किल से प्रभावित होकर 'केपटाइम्स' अखबार ने गांधीजी के संदर्भ में लिखा- "भारतीय जहां भी जाता है, काफी अच्छा और उपयोगी काम करता है (शर्मा, २०१३)|"

1893 से 1914 तक दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने बदलाव लाने के लिए जो कुछ लिखा, उसका मतलब था सारे भारतीय समुदाय में एकता और सौहार्द कायम करना| दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों का एक ऐसा समूह जिसमे कोई आपसी तालमेल नहीं था| अतः वे वहां के मुस्लिम व्यापारियों, पश्चिम भारत के अपने हिंदू और पारसी मूवक्किलों, मद्रास से आए गुलाब मजदूरों और अफ्रीका नेपाल में पैदा हुए भारतीय ईसाइयों में मैत्री की भावना पैदा करना चाहते थे, लेकिन यह कोई सरल काम नहीं था| वहाँ की स्थिति बड़ी विकट थी| उसे एक रचनात्मक मोड़ देने के लिए उन्होंने कानूनी स्मरण पत्र, रिपोर्ट और स्थिति सुधारने के उपायों के ऊपर लिखा|

अपने पाठकों को प्रेरित और प्रोत्साहित भी किया| गांधीजी के लिए लेखन एक साधन था| लेखन उनके व्यावहारिक उपायों की खोज का साधन था| जो हिंदुओं, मुसलमानों, सिक्खों, जैनों, ईसाईयों और बौद्धों को भाई-भाई की तरह रहने में मदद करें| गांधीजी मात्र लेखक नहीं कर्मयोगी भी थे (जोशी, २०१०)|

महात्मा गाँधी की पत्रकारिता ने देश के स्वराज आंदोलन राष्ट्र-भाव के विकास तथा राष्ट्रीय जागरण में महत्वपूर्ण योगदान किया, जिसके सबंध में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने कहा कि –"गाँधी से महान संपादक कदाचित इस देश में पैदा नहीं हुआ| जिस दिन हमने गाँधी को खोया, उसी दिन सारी पत्रकारिता देश-भक्ति के धर्म से हटकर राजनीतिक का जकड़-व्याल हो गई|"

समस्याओं के साथ महात्मा गांधी का जन्म कौन सा रिश्ता था कि वे अपने सारे वातावरण की समस्याएं उठाते और उन्हें सुलझाने बैठ जाते| आश्रम में हो या पहाड़ पर, स्थिर हों, या यात्रा में, प्रार्थना में हों या परिचय के क्षेत्र में, गांधीजी का नाम गांधीजी है ही, जो जीवन के प्रत्येक क्षण, समस्याओं को सुलझाने में लगे रहें|

**सेवा की प्रतिमूर्ति गांधीजी:-**

अफ्रीका प्रवास के दौरान 3 वर्षों में उन्होंने वकील से ज्यादा पत्रकार के रूप में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया| उन्होंने 'ग्रीवीएंस ऑफ ब्रिटिश इंडियन इन साउथ अफ्रीका' नाम की हरे रंग की पुस्तिका जिसे 'हरि पोथी' अर्थात् ग्रीन पैम्फलैट कहा गया, प्रकाशित की, जिस पर इलाहाबाद के 'पायोनियर', मद्रास के 'मद्रास स्टैंडर्ड' और 'इंग्लिशमैंन' आदि पत्रों ने टिप्पणी प्रकाशित की| हरी पोथी में नेटाल में भारतीयों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार का आंखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया गया था| गांधीजी पुनः अफ्रिका गए तब अफ्रीका में भारतीयों के साथ होने वाली घटनाओं और व्यवस्था के विरोध में देश के तत्कालीन स्थापित पत्रों में खुलकर लिखा| संपादकों ने उन्हें सहयोग किया तो कुछ ने उन्हें अपने दफ्तरों में घटों बिठाए रखने पर भी उनसे बात तक नहीं की|

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की स्थिति को मजबूत बनाने के लिए 'नेटाल इन्डियन कांगेस' की स्थापना की| इंटरनेशनल प्रिंटिंग प्रेस से 4 जून 1903 को 'इंडियन ओपिनियन' का प्रथमांक अंग्रेजी, हिंदी, गुजराती और तमिल में निकाला गया| शनिवार को चार पृष्ठों में निकलने वाले इस पत्र के महत्वपूर्ण स्तंभ गांधीजी ही तैयार करते थे| जनमत को शिक्षित करना, यूरोपीयन और भारतीयों के बीच गलतफहमी को दूर करना इसका उद्देश्य था| प्रथम अंक में उन्होंने पत्र के उद्देश्य के संबंध में लिखा था- "भारतीय लोगों पर हुए अत्याचार को प्रदर्शित करना तथा विचारों का प्रसार करना इसका पहला उद्देश्य है जिससे लोगों में सत्यनिष्ठा जागृत हो सके|" गांधीजी मानते थे कि जनमत को जगाने के लिए पत्र ही सबसे बड़ी ताकत है 'इंडियन ओपिनियन' को सर्वोदय और सत्याग्रह का प्रचारक बनाकर उन्होंने हिंसात्मक पत्रकारिता की मिसाल प्रस्तुत की| आर्थिक खर्चो और विपरीत परिस्थितियों का सामना कर गांधीजी ने 'इंडियन ओपिनियन' को चलाया| इसके लिए अपने अंतिम प्रवास की कमाई 5000 पाउंड खर्च कर दी|

नवजीवन में जनजागृति, सामाजिक सुधारणा, कुरीतियों के सामने आवाज़, गरीबो का आवाज उठाना,

महिलाओ को सक्रिय करना, आंदोलन-स्वतंत्रता संग्राम के लिए लोगों को तैयार करना ऐसे समय प्रति समय विचारपत्र के माध्यम से लोगों का ध्यान खींचते थे| गांधीजी के लेखन में पत्रकारत्व के बदले लोकसेवा का भाव था| 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' को उन्होंने अपनी नीति और सिद्धांतों का वाहक बनाकर गाँव-गाँव में देश की आजादी के लिए जन-जागरण की अलख जगाने में योगदान दिया| सन् 1919 में अंग्रेजों के रोलेट एक्ट के विरोध में मुंबई से पंजीकृत साप्ताहिक 'सत्याग्रही' का प्रकाशन आरंभ किया| 4 फरवरी 1932 को 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' के बंद हो जाने के बाद गांधी ने पुणे से साप्ताहिक 'हरिजन' का प्रकाशन प्रारंभ किया| 'हरिजन' के माध्यम से उन्होंने पूरे देश में हरिजन उत्थान का कार्य कर भारतीय दलित और उत्पीड़ित समाज को एक दिशा प्रदान करने में सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया|

**गांधी पत्रकारिता में विविधता:-**

पत्रों में प्रकाशित गांधीजी के लेखों के विषय विविधता लिए हुए होते थे| एक विषय को लेकर वह कभी थमें नहीं| एक के बाद एक आलेखों के विषय भी भिन्न होते थे| इस संबंध में सुप्रसिद्ध विदेशी पत्रकार लुई फिशर ने कहा था- "एक लेख में गांधी भारत के लिए कैसी आजादी चाहिए इसकी व्याख्या करते थे और दूसरे में मिठाई बनाने के लिए दी जाने वाली चीनी के राशन में कमी की मांग करते थे| तीसरे में अपराध और अपराधियों की समस्या पर विचार करते और चौथे में यह आशा प्रकट करते थे कि स्वतंत्र भारत में सेनाएँ रखने के बारे में नियंत्रण से काम लिया जाएगा| पांचवे में वह यह फैसला करते हैं कि झूठ बोलना किसी भी अवस्था में उचित नहीं हो सकता और सत्य बोलने में किसी अपवाद की स्वीकृति की गुंजाइश नहीं|" एक और जहाँ वे वाइसराय को चुनौती का पत्र लिखते थे, तो दूसरी और लोक-जीवन के साथ विवाह, धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा, हरिजनोंद्धार, खादी ग्रामद्योग शिक्षा, चरखा, भाषा और गौ-रक्षा आदि प्रसंगों की भी चर्चा करते थे| जिन चर्चाओं का समाचार-पत्र में अथवा उनके समाचार-पत्र में आना संभव ना होता था, उनको अपनी व्यक्तिगत भेटों तथा चिट्ठी-पत्री के द्वारा व्यक्त करते थे|

**निष्कर्ष :-**

गांधीजी की पत्रकारिता के संबंध में प्रस्तुत आलेख के विभिन्न बिंदुओं से स्पष्ट है कि विपरीत परिस्थितियों में गांधीजी ने पत्रकारिता के क्षेत्र में जो कार्य किया वह आज भी अविस्मरणीय है| उनके पत्रकारिता के सिद्धांत वर्षों बाद आज भी प्रासंगिक हैं| यदि देश में पत्रकारिता के संक्रमण काल में आज के पत्रकार उनकी संपादन नीतियों और समीक्षक वृत्ति का अनुपालन करें तो देश की दिशा और दशा बदल सकती है|

इस शोधपत्र से जो बात सामने आई है, कि गांधीजी का मूल व्यवसाय पत्रकारत्व नहीं था किन्तु वे महान पत्रकार और संपादक थे| महात्मा गाँधी की पत्रकारिता सेवा और जनजागृति की लिए ही था| एक पत्रकार के नाते से सत्य के साथ रहना, सभी सबूतों के साथ सूचनाएं पाठको को देना, कार्य के प्रति इमानदार रहना जेसे सभी गुण गांधीजी में थे| गांधी का समाज और लोगों की सेवा ही पत्रकारिता का लक्ष्य था। गांधी द्वारा निर्धारित पत्रकारिता का एकमात्र उद्देश्य था कि कोने-कोने तक जनता को हर बात की सूचना मिले, जनता जागृत हो जाए| समस्या अथवा घटना चाहे उड़ीसा की हो, चाहे दिल्ली की, चाहे बंगाल की हो, चाहे तमिल, तेलुगू यह मलय देश की, उत्तर प्रदेश की हो, चाहे मध्य प्रदेश की, गांधी उन समस्याओं अथवा घटनाओं का अपने छोटे से साप्ताहिक में केवल उल्लेख मात्र ही नहीं करते थे, किंतु उन पर अपना मत भी दिया करते थे| शोध में निन्म लिखित बिन्दु पाए गए|

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि महात्मा गांधी पत्रकारिता के माध्यम से देश सेवा कर रहे थे | वे एक निडर,निष्पक्ष ,गरीबों और शोषितों के उद्धारक रूप में हमारे समक्ष आते हैं | जिन्होंने तत्कालीन समय की विविध विषयों पर अपनी लेखनी चलाकर युवाओं को जागृत और सचेत करने का प्रयत्न किया,वे एक सच्चे समाज सुधारक थे जहाँ उन्होंने पत्रकारिता को अपने अभियान में साधन रूप में इस्तेमाल किया | उनकी पत्रकारिता की भाषा सरल, सहज और सुबोध थीं | उन जैसा सच्चा और अपने कर्म के प्रति निष्ठा रखने वाला अब विरले हैं |

**सन्दर्भ सूची:-**


1. गाँधी, म. क. (२००३). गांधीजी की सूक्तियां (२०१० ed.). (ठ. र. सिंह, Ed.) नई दिल्ली: हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा. लिमिटेड.
2. गोयनका, क. क. (२०१६). गाँधी: पत्रकारिता के प्रतिमान. नई दिल्ली: सस्ता साहित्य मण्डल.
3. चोपड़ा, ड. ज. (२००८). भारतीय पत्रकारिता पर एक नजर (1st ed.). नई दिल्ली: सुमित एन्टरप्राइजेज.
4. जैन, ड. स. (२०१०). गाँधी विचार और साहित्य (Vol. 1st). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
5. जोशी, ड. ब. (२०१०). गाँधी विचार और साहित्य (1st ed.). (ड. स. जैन, Ed.) नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
6. शर्मा, न. क. (२०११). स्वत्रंता संग्राम और पत्रकारिता (1st ed.). नई दिल्ली: ओमेगा पब्लिकेशन.
7. शर्मा, स. (२०१३). सर्वोदय और सत्याग्रही पतकरिता के प्रणेता:महात्मा गाँधी. गवेषणा , 1st (१०१), १५१.
8. सिंह, र. (2019, Feb 2). गांधी की पत्रकारिता. (आ. कुमार, Editor, & लोकनीति केंद्र, प्रज्ञा संस्थान, नई दिल्ली) Retrieved Feb 26, 2021, from https://satyagrah.scroll.in: https://satyagrah.scroll.in/article/124774/book-review-gandhi-ki-patrakarita

# केदारनाथ अग्रवाल का साहित्य और सामाजिक यथार्थ

**ज्योति कुशवाहा**
पी-एच.डी. शोधार्थी, हिन्दी विभाग
हेमचंद यादव विश्वविद्यालय, दुर्ग (छ.ग.)

**शोध सारांश**

*साहित्य जगत के दैदीप्यमान नक्षत्र श्री केदारनाथ अग्रवाल हिंदी के प्रगतिशील काव्यधारा के प्रख्यात साहित्यकार माने जाते हैं। वास्तव में केदारनाथ अग्रवाल युगदृष्टा कवि के साथ-साथ जनता के कवि, धरती के कवि, किसान के कवि, खेतिहर मजदूर कवि एवं कचहरी के कवि भी हैं। आपने मार्क्सवादी दर्शन को जीवन का आधार माना है क्योंकि आपके मन में जनसाधारण के प्रति गहरी एवं व्यापक संवेदना व्याप्त है। अजित पुष्कल जी ने भी महसूस किया "संवेदना के धरातल पर केदार की कविता प्रेमचंद की कहानी के नजदीक लगती है।"*

**बीज शब्द**

प्रगतिशील, मार्क्सवादी विचारधारा, हरिजनोंद्धार, जनवादी दृष्टिकोण, क्रांतिकारीमजदूर, मानवीय संवेदना, सामाजिक यथार्थ।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील विचारधारा के कवि हैं, इनकी रचनाओं में खेत-खलिहान, किसान-मजदूर, शोषित-पीड़ित एवं आम-आवामकी पीड़ाओं को बड़ी प्रमुखता से उठाया गया है।अगर हम केदारनाथ अग्रवाल जी के मित्रों की चर्चा करें तो सौभाग्य से उन्हें ऐसे ही मित्र मिले थे जो अपनी साहित्य और रचनाओं के द्वारा समाज और राष्ट्र की जनता को हमेशा जागृत करने का प्रयास करते रहते थे। मित्रों के सानिध्य ने अग्रवाल जी को समय-समय पर प्रेरणा और मार्गदर्शन किया। उनके मित्रों में डॉ रामविलास शर्मा, नरेंद्र शर्मा, डॉ हरिवंश राय बच्चन, डॉ गोरखनाथ द्विवेदी, अशोक बाजपेयी, कामता प्रसाद, अमृतलाल नागर, महादेवी वर्मा, धनंजय वर्मा, सुदीप बनर्जी, डॉ अशोक त्रिपाठी, शिव कुमार सहाय आदि रहें हैं। केदार जी अपने मित्रों से सदैव कहा करते थे यदि मेरी रचनाओं में कोई कमी है तो मुझे निष्पक्ष भाव से बताओ क्योंकि यही रचनाएं युग यथार्थ का बोध करायेगी। केदार जी ने अपने मित्रों से बहुत कुछ लिया और उन्हें बहुत कुछ दिया भी। पत्र साहित्य जगत का 'मित्र संवाद' उनके और उनके खास मित्र रामविलास शर्मा जी के पत्रों का जीवंत प्रमाण है।

'पतिया' उपन्यास में निहित सामाजिक यथार्थ -'पतिया' अग्रवाल जी द्वारा रचित उपन्यास है। जिसमें उन्होंने समाज में फैली तत्कालीन समस्याओं को व्यक्त किया है। राजनीतिक बदलाव के इस युग में सामाजिक और नैतिक मूल्य भी परिवर्तित हो रहे हैं सामाजिक और आर्थिक स्थिति गंभीर और विचारणीय हैं ऐसी स्थिति में देश में बाल विवाह, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, वेश्यावृत्ति, अनमेल विवाह, छुआछूत आदि समस्याएँ सिर उठाए खड़ी है जो राष्ट्र और समाज के विकास में बाधा बनती हैं। कवि केदारनाथ जनता के पक्षधर थे इसलिए निम्न वर्ग की पीड़ा किसानों और दलितों के शोषण आदि को देखकर उनके मन में जो आक्रोश उत्पन्न होता था उससे वे यथार्थ की ओर अग्रसर होते चले जाते थे। 'पतिया' में एक किसान परिवार की साधारण सी बालिका के जीवन की कहानी को बड़े ही रोचक और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ साथ पूँजीपति एवं जमीदार वर्ग पर तीक्ष्ण व्यंग किया गया है। इस रचना में केदारनाथ जी पर पड़े मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव देखने को मिलता है। उनकी रचनाओं में हमें मानवीय संघर्ष की प्रधानता देखने को मिलती है जीवन जगत के मध्य की दूरी को उन्होंने अनोखे ढंग से संजोया है।

### क्रांतिकारी चेतना के संवाहक कवि

केदारनाथ अग्रवाल जी क्रांतिकारी कवि के रूप में उभर कर सामने आते हैं उनके साहित्य जगत में पुरातन परंपराओं को तोड़कर नवीन संदर्भों में साहित्य सृजन देखने को मिलता है। हम कह सकते हैं "केदारनाथ अग्रवाल टिमटिमाते लालटेन नहीं, बल्कि उगते सूरज के कवि हैं यह सूरज मनुष्य के श्रम का सूरज है।"केदार जी की कविताएं अनुभव से उपजी हैं। उनकी बहुत सी कविता मानवीय चेतना को दृश्य और दृष्टि देने की सक्षम इकाई है। इसलिए कवि का यह फर्ज होता है कि वह कविता को सशक्त और सार्थक बनाये। उनकी बहुत सी ऐसी कविताएं हैं जो राजनीतिक और प्रचारात्मक है। उनका संबंध जन आंदोलन से है। जब कांग्रेसी नेता लंदन गए थे उनके वापस आने पर भारत की संघर्षरत जनता की ओर से केदारनाथ अग्रवाल उनसे प्रश्न पूछते नजर आते हैं -

*"बोलौ आजादी लाये ?*
*नकली मिली है कि असली मिली है ?*
*कितनी दलाली में कितना मिली है ?"*[1]

### अनुभूतसत्यको उजागर करना

केदारनाथ अग्रवाल जी अपने साहित्य में अनुभूतसत्य को ही प्रेषित करते हैं।उनकी रचनाएं संशयऔरसंदेहसे कोसों दूर रही, जिसका जिक्र उन्होंने स्वयं किया है - "जैसे मैं संशय और संदेहों से कोसों दूर रहता हूँ वैसे मेरा गद्यभी उससे उतनी ही दूर रहता है जैसे मैं आदमी को उसके परिवेश के संदर्भ में समझता हूँवैसे मेरा गद्य उसे उसके परिवेश के संदर्भ में समझता है।"[2] चूंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए समाज में हो रहे परिवर्तनों से वह अछूता नहीं रह सकता। समाज का साहित्य और साहित्य का समाज पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। केदारनाथ अग्रवाल जी ने समाज में निहित यथार्थ को सामने लाने का प्रयास किया।"हिंदी के अन्य सभी कवियों की अपेक्षा वे अधिक सफल हुये और इसका कारण उनकी लोकजीवन से निकटता, यथार्थ भेदिनी दृष्टि तथा उनका महान जनवादी दृष्टिकोण है।"[3]

### काव्य में प्रतिबिंबित जनवादी दृष्टिकोण

केदारनाथ अग्रवाल जी जनवादी कवि है। वे साधारण वर्ग की पीड़ा का बड़ा ही यथार्थ और हृदय स्पर्शी चित्रण अपने साहित्य में करते है। केदार जी एक जनप्रतिनिधि कवि रहेंहैं, कविता के विषय में उनका दृष्टिकोण अलग रहा। जिसका जिक्र करते हुए उन्होंने कहा है - "कविता के बारे में मेरा दृष्टिकोण दूसरे विद्वानों के दृष्टिकोणों से सर्वथा भिन्न था और जो बात मैंने तब कही थी उसे गले के नीचे उतारना आसान न था।"[4] भूखसेबेहाल, परेशान जनता का जिक्र करते हुए उन्होंने अपनी रचना गुलमेहंदी में लिखा है -

"बाप बेटा बेचता है
भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर
हो रही अनरीति बर्बर
*राष्ट्र सारा देखता है*
*बाप बेटा बेचता है।"*[5]

### हरिजनोंद्धार हेतु कवि का संघर्ष

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हरिजनों पर अत्याचार किया जाता रहा यह हरिजन अधिकतर खेतिहर मजदूर हुआ करते थे। आपका जन्म 'कमासिन'के एक जमींदार परिवार में हुआ था। कमासिन के प्रति, वहां के लोगों के प्रति आत्मीयता आपकी कविताओं में गुंजायमान दिखलाई पड़ती है। सन 1946 में जब यह हरिजन मजदूर अपने अधिकार के लिए लड़ रहे थे उस समय उनके संघर्ष का चित्रण आप के काव्य में दिखलाई पड़ता है -

*"डंका बजा गाँवकेभीतर*
*सब चमार हो गयेइकट्ठा*
*एक उठा दहाड़कर*
*हमपचास हैं,*
*मगर हाथ सौ फौलादी हैं।*
*सौ हाथों की एका का बल बहुत बड़ा है*
*हम पहाड़ को भी उखाड़ कर रख सकते हैं।"*[6]

### साहित्य सृजन और वकालत साथ-साथ –

केदारनाथ अग्रवाल जी कवि होने के साथ-साथ पेशे से वकील भी थे उन्होंने आदमी को आदमी के धरातल पर जीते पर रखते देखा था। सामाजिक जनजीवन से उनका गहरा नाता रहा। अपनी उन्हीं अनुभूतियों को 'पतिया' में व्यक्त किया। चूंकि अग्रवाल जी वकील थे इसलिए कोर्ट कचहरी से उनका घनिष्ठ संबंध था। न्याय के दरबार में रचा जाने वाला नाटक उन्होंने भरपूर देखा। इसलिए उनके साहित्य में न्याय व्यवस्था की आलोचना भी प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ती है -

*"सच के पाँव उखड़ते*
*झूठ के जब झंडे गड़ते*
*सच जीते तो कैसे*
*न्याय मिले तो कैसे ?"*[7]

खराब न्याय व्यवस्था एवं पुलिस प्रशासन की वजह से गुनहगारों ने न्याय व्यवस्था का मजाक बनाकर रख दिया है अग्रवाल जी इसकी तीव्र आलोचना करते हैं -

*"कानून हो रहा है*
*इंसाफ के खिलाफ*
*हथियार"*[8]

### क्रांतिकारी स्वाधीनता संग्राम और केदारनाथ अग्रवाल –

स्वाधीनता संग्राम की आकांक्षा केदारनाथ अग्रवाल के स्वर की मूल पहचान रही। सन 1946 में जब आजादी का सपना साकार होता नजर आ रहा था। उस समय तत्कालीन शासकों ने शासकों ने जनता की आवाज को दबाकर अंग्रेजों से समझौता किया। जनता के ध्येय के साथ दगाबाजी की।उसके बदले में जनता को अहिंसा की सीखऔर आजादी का दिलासा दिलाया। अग्रवाल जी ने ऐसी मार्मिक परिस्थितियों का वर्णन अपनी कविताओं में किया है -

*"आफत ही आफत सब आई*
*लेकिन दिल्ली से आजादी*

*अब-तक अब-तक हाय न आई*
*हाय न आती !!"*[9]

**प्रगतिशील मार्क्सवादी विचारधारा –**

अग्रवाल की प्रगतिशीलता के केन्द्रबिन्दु में भारत की श्रमजीवी जनता है। उसी जनता के प्रति जब स्नेहा प्रगाढ़ होता गया जनता के संघर्ष में उनकी आस्था बढ़ती गई और भविष्य के प्रति चिंता उत्पन्न होने लगी। बस यहीं से उनके मन में मार्क्सवादी विचारधारा का जन्म हुआ। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जहाँ बहुत से लेखक प्रगतिशील दमन से डरकर यह रामराज के लुभावने सपने देखकर नव निर्माण में हाथ बंटाने चले गए वहाँ केदारनाथ जी उन लेखकों में शामिल हुए जो इन सभी परिस्थितियों को जनता की ओर से संबोधित कर सके जनता की आवाज को बुलंद कर सके।कवि कहते हैं श्रमिक वर्ग रात-दिन मेहनत करके अपनी जीविका चलाता है उसे संघर्ष में अपना जीवन जीता है, भोगता है और गढ़ता है एवं वह अंत तक आशा बना रहता है -

*जिंदगी को वह गढ़ेंगे*
*जो शिलाएं तोड़ते हैं*
*जो भागीरथ नीर की*
*निर्भय से शिलाएं मोड़ते हैं*
*यज्ञ को इस शक्ति*
*श्रम को श्रेष्ठतम मैं मानता हूँ*
*जिन्दगीकोवहगढ़ेंगे*
*जो खदानें खोदते हैं।*[11]

अंततः हम कह सकते हैं कि केदारनाथ अग्रवाल जी जनसाधारण के कवि थे जिन्होंने समाज में रहते हुए सामाजिक समस्याओं का अनुभव किया एवं जनता के दुख दर्द और समस्याओं को यथार्थ रीति से अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया।स्वयंकी समस्याओं को लेकर लड़ते हुए कृषक मजदूरों के संघर्ष को प्रगतिशील लेखन के माध्यमसे भरपूर सहयोग करते हुए उनका मार्गदर्शन किया।अपनी रचना विचार बोध में अग्रवाल जी स्वयं लिखते हैं - "मुझे पूरा विश्वास है की प्रगतिशील लेखक ऐसे विरोध का मुंहतोड़ उत्तर देंगे और जनता की चेतना को दिग्भ्रमित होने से बचाएंगे।"[12] मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावितअग्रवालजीने अपने गांव में ही नहीं बल्कि अपने जनपद के साथ-साथ पूरे राष्ट्र में जन चेतना का नया संचार किया।

**संदर्भ :**

1. अग्रवाल, केदारनाथ, कहे केदार खरी-खरी, पृष्ठ संख्या - 41
2. अग्रवाल, केदारनाथ, समय-समय पर, पृष्ठ संख्या - 07
3. मालवीय, डॉ रामचन्द्र, तदैव, विचार - रामेश्वर शर्मा, पृष्ठ संख्या - 18
4. अग्रवाल, केदारनाथ, समय-समय पर, पृष्ठ संख्या – 03
5. अग्रवाल, केदारनाथ, गुलमेहंदी, पृष्ठ संख्या - 24
6. अग्रवाल, केदारनाथ, कहे केदार खरी-खरी, पृष्ठसंख्या - 21
7. अग्रवाल, केदारनाथ, कहे केदार खरी-खरी, पृष्ठ संख्या - 144-145
8. वही, पृष्ठसंख्या - 147
9. वही, पृष्ठ संख्या - 36
10. अग्रवाल, केदारनाथ, विचार बोध, पृष्ठ संख्या - 49
11.अग्रवाल, केदारनाथ, जो शिलाएं तोड़ते हैं, कविता -1

## हिन्दी की शैलियाँ

**भाषाशास्त्र के अनुसार हिन्दी के चार प्रमुख रूप या शैलियाँ हैं :**

- **मानक हिन्दी - हिन्दी का मानकीकृत रूप, जिसकी लिपि देवनागरी है। इसमें संस्कृत भाषा के कई शब्द है, जिन्होंने फ़ारसी और अरबी के कई शब्दों की जगह ले ली है। इसे शुद्ध हिन्दी भी कहते हैं। आजकल इसमें अंग्रेज़ी के भी कई शब्द आ गये हैं (ख़ास तौर पर बोलचाल की भाषा में)। यह खड़ीबोली पर आधारित है, जो दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्रों में बोली जाती थी।**
- **दक्खिनी - उर्दू-हिन्दी का वह रूप जो हैदराबाद और उसके आसपास की जगहों में बोला जाता है। इसमें फ़ारसी-अरबी के शब्द उर्दू की अपेक्षा कम होते हैं।**
- **रेख़्ता - उर्दू का वह रूप जो शायरी में प्रयुक्त होता था।**
- **उर्दू - हिन्दवी का वह रूप जो देवनागरी लिपि के बजाय फ़ारसी-अरबी लिपि में लिखा जाता है। इसमें संस्कृत के शब्द कम होते हैं, और फ़ारसी-अरबी के शब्द अधिक। यह भी खड़ीबोली पर ही आधारित है।**

# 'पूस की रात'कहानी की प्रासंगिकता

**सबनम भुजेल**
**शोधार्थी, सिक्किम विश्वविद्यालय**

**सारांश:-**
*हिंदी साहित्य लेखन में यथार्थवादी चिंतन को विकसित करने में प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' का महत्त्वपूर्ण योगदान है।1930 ई॰ में रचित यह कहानी यथार्थवादी कहानियों में अग्रणीय है। इस कहानी में आर्थिक रूप से जूझते किसान जीवन के संघर्ष को बखूबी अभिव्यक्ति मिली है । जब देश अंग्रेजों की पराधीनता, दमन, शोषण के साथ ईसाई धर्म-संस्कृति एवं स्वराज्य की देशव्यापी लहर से आंदोलित हो रहा था तब प्रेमचंद ने किसानी समस्या को जन मानस के लिए सुलभ कराया और किसान वर्ग की चिंताओं को यथार्थपरक ढंग से अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। पूस की रात कहानी का हल्कू वर्तमान समाज की किसानी जीवन से जूझ रहे आम आदमी का प्रतिनिधित्व करता है,जो लगातार श्रम करते हुए भी अपने जीवन में किसी तरह का कोई सुधार नहीं देखता बल्कि जीवन की आम जरूरतों से भी लगातार वंचित होते रहने की पीड़ा से त्रस्त है | किसान जो अन्न उपजाता है,लोगों की भूख को शांत करता है वही ठंड से अपने को बचाने के लिए कम्बल तक की सुविधा नहीं ले पाता है,मेहनत और श्रम से तैयार फसल के नष्ट हो जाने की स्थिति वह स्वीकार कर लेता है क्योंकि उसे खेतों की रखवाली के लिए ठण्ड में मरना नहीं पड़ेगा | वह एक मजदुर बनने की स्थिति में आने को तैयार होता है पर ठंड से ठिठुरने से बचा रह जायेगा इस बात से उसे तसल्ली मिलती है ,किसान जीवन की यह बड़ी विडंबना है जिसको कहानी में रेखांकित किया गया है | 1930 की प्रकाशित यह कहानी आज भी प्रासंगिक है ,किसान के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया है बल्कि वे अपनी समस्याओं से मुक्ति के लिए जीवन खत्म कर रहे हैं, जो वर्तमान समाज के निर्मम होने की ओर संकेत करता है |*

**बीज शब्द:-**
यथार्थवाद, किसान जीवन, गरीबी, भारत, वर्ग-समाज, व्यवस्था, जमींदारी प्रथा इत्यादि।

भारत विविधताओं से भरा देश है । प्रकृति और जैव विविधता ही नहीं वरन मानव समाज में भी यह धर्म,जाति,वर्ग सभी स्तरों में यह दिखाई पड़ता है | समाज का एक बड़ा तबका जो जीवन की सम्पूर्ण सुविआधाओं का उपभोग कर रहा है,जिनके कुत्ते बिल्ली भी उसी स्तर का भव्य भोजन पाते हैं वहीँ समाज में एक ऐसा वर्ग भी मौजूद हैं जो मानव जीवन की मूलभूत सुविधाओं से वंचित है | यह हमारे देश की बड़ी विडंबना है कि अमीरी और गरीबी की खाई दिनोंदिन कम होने की अपेक्षा बढ़ती चली जा रही हैं,इस खाई में जितना बढ़त होगी उतना ही कमज़ोर तबका शोषण,अत्याचार, भ्रष्टाचार से पीड़ित होती रहेंगी । 'पूस की रात' कहानी में प्रेमचंद ने समाज के इन्हीं वर्गों को केंद्र में रखा है | कहानी में प्रसंग है जब हल्कू अपने कुत्ता से कहता है- "क्यों जबरा, जाड़ा लगता है? कहता तो था, घर में पुआल पर लेट रह, तो यहाँ क्या लेने आये थे। .........यह खेती का मजा है! और एक भगवान ऐसे पड़े हैं जिनके पास जाड़ा जाए तो गर्मी से घबराकर भागे।.........मजूरी हम करें, मजा दूसरे लूटे।"[1] यह समस्या केवल हल्कू की नहीं है बल्कि हल्कू जैसे किसानों की हैं जो आज भी इस समस्या से जूझ रहे हैं। भारत कृषि प्रधान देश है,इसके बावजूद लोग यहाँ भूखों मरते हैं। दो वक्त की रोटी के लिए जी तोड़ मेहनत करते हैं ।

'पूस की रात' कहानी में हल्कू और गोदान का होरी दोनों की दशाएं एक सी हैं । हल्कू हर साल सेठ साहूकारों से उधार लेता है और अपनी सारी कमाई सूद चुकाने में ही खर्च कर देता है। उसने कंबल खरीदने के लिए जो तीन रुपए बचाकर रखे थे वह भी सूद चुकाने में ही खर्च हो जाता है जिससे वह एक कंबल भी नहीं खरीद पाता है और सर्दी में चिलम के सहारे गुजारा करता है | पूस की रात की कड़कती सर्दी में वह चिलम भी उसका साथ नहीं दे पाता और इस शोषणपरक व्यवस्था के प्रति हल्कू की पत्नी का आक्रोश इन शब्दों में व्यक्त होता है - "न जाने कितनों की बाकी है,जो किसी तरह चुकने ही नहीं आती। मैं कहती हूँ तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर-मरकर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई। बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जन्म हुआ है। पेट के लिए मजूरी करो। ऐसी खेती से बाज आए। मैं रुपए न दूँगी।-न दूँगी।"[i]यह पीड़ा केवल हल्कू की पत्नी की नहीं बल्कि उस जैसी अनेकों स्त्रियाँ की हैं जो जीवन में छोटे-2 सपनों को भी हकीकत का जामा नहीं पहना पाते हैं | यह केवल प्रेमचंद के समय की समस्या नहीं है बल्कि आज भी यह स्थितियां विद्यमान है,कर्ज न चुका पाने की स्थिति में कई किसान आत्महत्या का सहारा लेने को विवश होते हैं | किसान जिसका जीवन संघर्षों से भरा हुआ होता है,उसके में इनसे भिड़ने की अजस्र स्रोत है पर वर्तमान समाज और व्यवस्था के गडमड में किसान लड़ नहीं पाता है और वह घुटने टेकने को विवश होता है |हल्कू के पास किसानी नहीं तो मजदुर होने का विकल्प है वर्तमान किसान उस चयन से भी वंचित है क्योंकि बेबसी और विवशताओं का तो जैसे उससे गाढ़ा रिश्ता है |

व्यवस्था में बैठे लोग 'जय जवान जय किसान' का नारा लगाए फिरते हैं और बाद में वही उन्हें लूटते हैं। उनके प्रति संवेदनहीनता का परिचय देते हैं | भारी संख्या में बैंक का लोन न चुका पाने वाले व्यापारी देश छोड़ भाग जाते हैं और सत्ता उनके खिलाफ कुछ नहीं कर पाती जबकि बेचारे गरीब किसान लोन न चुका पाने की स्थिति में अपनी संपत्ति के कुडकी होने की दशा ,परिवार की बेबसी देखने का साहस नहीं कर पाते और दुनिया से कूच कर जाते हैं |

**कृषक जीवन का यह यथार्थ है कि वह कड़ी मेहनत करता है, जाड़े में ठिठुरता है, जमींदार की गाली सुनता है इसके बावजूद भी उसकी जरूरतें पूरी नहीं होती फिर भी वह काम पर जाता है। इन्हीं परिस्थितियों के कारण वह ठंड में ठिठुरने लगता है और नीलगायों से अपनी फसल की रक्षा भी नहीं कर पाता है। वह खेती करना नहीं छोड़ना चाहता लेकिन इतनी कठिनाइयों में उसका वह विचार निरर्थक सिद्ध होता है। उसके सारे फसल नीलगायें खा जाती है।**

प्रेमचंद ने तत्कालीन समय की किसानी जीवन की पीड़ा और तकलीफों को बहुत गहराई में महसूस किया है | उनका ग्रामीण जीवन तथा संस्कृति से इतना एकाकार था कि वे स्वयं उसके प्रतीक बन गए थे। इनके संबंध में कमल किशोर गोयनका लिखते हैं- " प्रेमचंद ने कृषक एवं कृषि साहित्य की दुर्दशा पर अपने कई लेखों एवं संपादकीय में समाज का ध्यान आकर्षित किया है। प्रेमचंद के अनुसार किसान एक सीधी, बेजान, दुधारू गाय है।"[ii]

हल्कू अपनी दरिद्रता, असहायता एवं शोषण से ग्रसित होकर भी जीवन जीता है। प्रेमचंद इस दुरावस्था के कारणों का उल्लेख 'प्रेमाश्रम' में करते हैं और लिखते हैं- "उनकी दरिद्रता का उत्तरदायित्व उनपर नहीं बल्कि उन परिस्थितियों पर हैं जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है और वे परिस्थितियाँ क्या है? आपस की फुट, स्वार्थपरता और एक ऐसी संस्था का विकास, जो उनके पाँव की बेड़ी बनी हुई है।"[iii] प्रेमचंद ने हल्कू के माध्यम से एक ग़रीब किसान जीवन की समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया है। यह केवल 1930 ई॰ का यथार्थ नहीं बल्कि आज भी यह समस्याएँ विद्यमान हैं। आज भी गरीब किसान अपने मालिकों, साहूकारों एवं जमींदारों के अत्याचार से ग्रसित हैं। स्वतंत्र प्राप्ति के बाद और भी स्थितियां खराब हुई हैं । उनके अधिकारों पर प्रतिबंध लगने लगा है ,जिससे मोहभंग की स्थितियां पैदा हुई । गरीबी के कारण हल्कू और उसके परिवार विवश और लाचार हो गए। प्रेमचंद लिखते हैं-"चिलम पीकर हल्कू फिर लेटा और निश्चय करके लेटा कि चाहे कुछ भी हो अबकी सो जाऊँगा; पर एक ही क्षण में उसके हृदय में कंपन होने लगा।"[iv]

प्रेमचंद की सभी कहानियाँ किसी न किसी समस्या को उजागर करती हैं । उनकी रचनाओं में समस्याएँ अपना मार्ग खुद ढूंढ लेती हैं। हर समस्या अपने आप में विशिष्ट नजर आती है और समाज के यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करती हैं । 'पूस की रात' कहानी में हल्कू का संघर्ष गोदान से कई ज्यादा कठिन और बड़ा लगता है। होरी के सामने भी गरीबी की

समस्या, ऋण ग्रस्तता और फसल की रक्षा करने जैसी समस्याएँ हैं किंतु एक किसान होने के नाते खेती को लेकर उसके मन में जो भाव है, जो सम्मान है वह उसे मजदूर बनने से मना करता है। वह कहता है- "जो दस रुपए महीने का भी नौकर है, वह भी हमसे अच्छा खाता-पहनता है; लेकिन खेतों को छोड़ा नहीं जाता।"[v] लेकिन हल्कू की स्थिति वैसी नहीं है। वह जिन परिस्थितियों से गुजर रहा है वह उसके लिए बहुत ही कठिन एवं असहनीय है। एक ओर अर्थ की समस्या दूसरी ठंड की। कृषक जीवन का यह यथार्थ है कि वह कड़ी मेहनत करता है, जाड़े में ठिठुरता है, जमींदार की गाली सुनता है इसके बावजूद भी उसकी जरूरतें पूरी नहीं होती फिर भी वह काम पर जाता है। इन्हीं परिस्थितियों के कारण वह ठंड में ठिठुरने लगता है और नीलगायों से अपनी फसल की रक्षा भी नहीं कर पाता है। वह खेती करना नहीं छोड़ना चाहता लेकिन इतनी कठिनाइयों में उसका वह विचार निरर्थक सिद्ध होता है । उसके सारे फसल नीलगायें खा जाती है। उसे यह बात तब पता चलती है जब मुन्नी आकर कहती है- "सारे खेत का सत्यानाश हो गया है। भला ऐसा भी कोई सोता है।....दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी छाई थी, पर हल्कू प्रसन्न था। मुन्नी ने चिंतित होकर कहा- अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी। हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा- रात को ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।"[vi]

'रात को ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा' हल्कू का यह वाक्य फसल के खत्म होने की पीड़ा से ज्यादा संतोष का झलकता है जो समय की विडम्बना को चित्रित करता है | प्रेमचंद ने होरी, घीसू, माधव, हल्कू आदि के माध्यम से ऐसे किसान चरित्रों का वर्णन किया है जो आर्थिक रूप से लाचार एवं बेबस है। पूस जैसे ठंड के मौसम में एक कंबल तक खरीदने का पैसा जुगाड़ न कर पाना वाकई किसान जीवन की दुर्दशा को बताता है | प्रेमचंद द्वारा रचित पात्र समय और व्यवस्था के घेरे में अपने को विवश पाते हैं,जीवन की विसंगतियां इस तरह उन पर हावीहैं कि चाह कर भी वे पात्र उनसे उभर नहीं पाते हैं | प्रेमचंद के समय की कहानियां पर आज वर्तमान दौर में यह और ज्यादा प्रासंगिक हो जाती है क्योंकि विकास के विभिन्न घटकों के आ जाने के बाद भी किसानी जीवन की स्थिति ज्यों की त्यों है बल्कि आज उनकी समस्याएं और विकट हुई हैं |

**संदर्भ ग्रंथ सूची:-**


1. झारी, विजयदेव. (संपा.). (2014). हिंदी की कालजयी कहानियाँ. नई दिल्ली : लिट्रेसी हाउस. पृ. 80
2. शर्मा, सरोजिनी (संपा.). (1987). आधुनिक कहानी संग्रह. आगरा : केंद्रीय हिंदी संस्थान. पृ.16
3. गोयनका, कमल किशोर. (2018). भारतीय साहित्य के निर्माता प्रेमचंद. नई दिल्ली : साहित्य अकादमी. पृ. 57
4. गोयनका, कमल किशोर. (2018). भारतीय साहित्य के निर्माता प्रेमचंद. प्रेमाश्रम. नई दिल्ली : साहित्य अकादमी. पृ. 58
5. झारी, विजयदेव. (संपा.). (2014). हिंदी की कालजयी कहानियाँ. नई दिल्ली : लिट्रेसी हाउस. पृ. 81
6. प्रेमचंद. (2004) गोदान. इलाहाबाद : सुमित्र प्रकाशन. पृ. 16
7. शर्मा, सरोजिनी (संपा.). (1987). आधुनिक कहानी संग्रह. आगरा : केंद्रीय हिंदी संस्थान. पृ.17


## हिन्दी

**हिन्दी शब्द का सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। 'सिंधु' सिंधु नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आस-पास की भूमि को सिन्धु कहने लगे। यह सिंधु शब्द ईरानी में जाकर 'हिंदू', हिंदी और फ़िर 'हिंद' हो गया। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गए और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा हिंद शब्द पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का ईक प्रत्यय लगने से (हिन्द+ईक) 'हिंदीक' बना जिसका अर्थ है 'हिन्द का'। यूनानी शब्द 'इन्डिका' या लैटिन 'इंडेया' या अंग्रेज़ी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही दूसरे रूप हैं। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफ़ुद्दीन यज्दी' के 'जफ़रनामा'(1424) में मिलता है।**

# कहानी की तलाश में अभिव्यक्त आम व्यक्ति का अंतर्द्वंद्व

विद्या छेत्री
**शोधार्थी,सिक्किम विश्वविद्यालय**

**सारांश-**
*'कहानी की तलाश में' यह अलका सरावगी कृत कहानी संग्रह है,जिसमें कुल कहनियाँ हैं | इस संग्रह को लिखने का आधार उन्हें अपनी एक यात्रा के दौरान मिली,जहाँ आम व्यक्ति के जीवन के कई रूपों को देखने का उन्हें अवसर प्राप्त हुआ । अतः उनके जीवन को बहुत करीब से देखने का उन्हें जो अवसर मिला उसने उनके प्रति गहरी संवेदना जागने में मदद की जो उनके कथा साहित्य में साफ दिखाई देती है । उनकी कहानियाँ आम आदमी के जीवन की व्यथा कथा को बहुत बरीकी से खोलती हुई, जीवन के विविध डगर में हँसी, खुशी, संघर्ष और उससे उपजे मानसिक द्वंद्वों को पकड़ती हुई उनकी कहानियां चलती हैं । 'कहानी की तलाश में' संग्रह की कहानियाँ विषय के स्तर पर विविधता लिए हुए है,साथ ही नए भावभूमि और अनुभव का विस्तार भी । सभी कहानियाँ अपने समय के साथ सशक्त संवाद करती हुई आम व्यक्ति के जीवन के विविध फलक को स्पर्श करती है।*

**बीज शब्द-**
आम व्यक्ति, अंतर्द्वंद्व, मानसिक संघर्ष, चेतन मन, नकारात्मक बोध, सामाजिक बिडम्बना, स्वतंत्रता, जीवन संघर्ष, महानगरीय जीवन बोध, विसंगतियाँ, पुरुषवादी मानसिकता इत्यादि |

वर्तमान साहित्य लेखन के परिदृश्य में एक महत्त्वपूर्ण नाम कोलकाता की अलका सरावगी का है, जिन्होंने नब्बे के दशक से लिखना शुरू किया और लगातार लिख रही हैं। अलका सरावगी ने स्त्रियों को अपनी रचनाओं में स्थान देने के साथ-साथ मानव जीवन के विविध पक्षों और समस्याओं को भी साहित्य का विषय बनाया है। उनकी कहानियों में आम आदमी का अकेलापन, आंतरिक द्वन्द्व, स्त्री पुरुष संबंध, रूढ़ि-परंपरा, आधुनिकता बोध, संयुक्त परिवारों का विघटन, पारिवारिक रिश्तों में खटास, अलगाव बोध, घुटन, दिखावापन, मूल्यहीनता, संवेदनहीनता, सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन, स्त्री शोषण, मानव की अमानवीयता भूमंडलीकरण और बाजारवाद से उत्पन्न समस्याओं का जीवंत चित्रण किया है। उनके साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष आम आदमी का अंतर्द्वंद्व है, जो नई कहानियों के बाद लुप्तप्राय थी । उसे साहित्य में फिर से लाने का प्रयत्न अलका सरवगी द्वारा हुआ है।

मनुष्य के जीवन में स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन का महत्त्व रहता है। तन-मन के सामंजस्य से मनुष्य अपने बलबूते पर बहुत कुछ करने का सामर्थ्य रखता है। भावों और विचारों के सामंजस्य के अभाव में द्वंद्व की स्थिति बनती है जो मानसिक परेशानी देती है और किसी निर्णय की स्थिति तक पहुँचने में दिक्कतें करती हैं। 'हिन्दी कोश' के अनुसार, "वह स्थिति जब मन में ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं, जिनमें परस्पर विरोध और संघर्ष होता है, उसे ही अंतर्द्वन्द्व कहते हैं।" यह एक प्रकार का मानसिक संघर्ष है, मनुष्य को केवल चेतन मन के संघर्ष का बोध होता है, अचेतन मन के भावों से वह अनभिज्ञ रहता है। अचेतन मन का अज्ञात संघर्ष बाहर न आ पाने के कारण मनुष्य से तरह-तरह के कर्म करवाता है। फ्रायड ने इस अज्ञात मन के संघर्ष का विश्लेषण अपने मनोविज्ञान में किया है।

वर्तमान दौर जटिल समय का दौर है, उस जटिलता ने मानव मन को और ज्यादा अंतर्द्वन्द्व की स्थिति में डाला है। 'अंतर्द्वन्द्व' सभी के मानस में घटने वाली घटना है परन्तु यह एक आम व्यक्ति की ज़िन्दगी को बहुत ज्यादा प्रभावित करता है। धूमिल के शब्दों में आम व्यक्ति उस भेड़ की तरह होता है जो दूसरों को ठंड से बचाने के लिए अपनी पीठ पर ऊन का बोझ ढोता है। समकालीन समय में मनुष्य जिस प्रकार आत्मकेंद्रित होता जा रहा है, उसी प्रकार साहित्य का क्षेत्र भी सीमित होता जा रहा है जिसमें व्यक्ति भले ही उसके केंद्र में है लेकिन आम व्यक्ति हाशिए पर जा रहा है। आम व्यक्ति की पीड़ा को स्वर देने के लिए रचनाकार को भी खास से आम होने की जरूरत होती है। अलका सरावगी का सामान्य जन-जीवन के प्रति गहरा सरोकार रहा है, "मुझे तो सिर्फ वे लोग सरल लगते हैं जो बेचारे दुनिया में मूर्ख समझे जाते हैं।" आज समाज की सारी स्थितियों ने मानव से उसकी अस्मिता छीन ली है। इसी छीने हुए अस्मिता को पाने और अपनी परिस्थितियों से टकराने की छटपटाहट अलका के कथा-साहित्य के पात्रों में दिखाई देती है। उनके कथा साहित्य का उदेश्य आम जन-जीवन के दैनंदिन में घटित होने वाली घटनाओं को उजागर करते हुए उनके मानसिक और कुंठित ग्रंथियों का विश्लेषण करना है, "दुनिया का सबसे बड़ा रहस्य है- मानव का मन और यही साहित्य के सृजन और पठन के आनंद का आधार भी है। मुझे लगने लगा है कि व्यष्टि और समष्टि के द्वंद्व को लेकर की जानेवाली तमाम बहसें बेकार हैं- बिना 'व्यष्टिवादी' हुए कोई भला समष्टि को क्या समझेगा? यदि एक व्यक्ति का आर्त्त अनुभव, उसका कष्ट, उसका पल-पल उद्वेलन, उसकी असहाय छटपटाहट-कुल मिलाकर उसकी साधारणता ही साहित्य में नहीं आती तो हम किस साधारण आदमी के साहित्य की बात करते हैं? आज की दुनिया में साहित्य के कुछ लोगों तक ही सिमटते जाने का कहीं यही कारण तो नहीं? कहीं विराट समस्याओं से जूझने की पात्रता की तलाश के चक्कर में हमनें साधारण लोगों की बड़ी जनसंख्या को साहित्य में पात्र बनने से निष्काषित तो नहीं कर दिया है? शायद हमें पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इस बात पर फिर से विचार करना चाहिए।" उनकी कहानियाँ व्यक्ति मन की जटिलता का बोध कराती हुई सामाजिक जीवन की संश्लिष्टता की ओर संकेत करती आगे बढ़ती हैं। वे उस आदमी को लेकर चिंतित दिखती हैं जो मशीनीकरण की इस दौड़ में मशीन का एक पुर्जा बनने को विवश है।

अलका सरावगी की कहानियों में उम्र के विविध पड़ाव के पात्रों में अंतर्द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। कहानियों में लगभग सभी आम जीवन जीते हुए लोग हैं, जो अपने समय समाज के साथ ताल-मेल बिठाने के प्रयत्न में कई तरह के द्वंद्व झेल रहे हैं। मानव जीवन में सामान्य सहज मानवीय स्तर पर जो आत्मीयता होती है वह समाप्त होती चली गई है और औपचारिकता ने अपने पैर पसार लिए हैं। व्यक्ति अपने परिवार और कारोबार तक यूँ सिमटकर रह गया है कि वह किसी से बातचीत करने में अपने को सहज नहीं पाता है, "मैं बहुत दिन से सोच रहा हूँ कि उससे उसकी कोई कहानी पढ़ने के लिए माँग लूँ, पर कितनी दिक्कत होती है मुझे किसी नए आदमी से बात शुरू करने में और इस तरह की बातें, जो मैंने आज तक किसी से भी नहीं की हैं।" आम व्यक्ति का जीवन संघर्ष से परिपूर्ण होता है, अपने जीवन संघर्ष से भिड़ने और उसे नियति मानकर स्वीकार उसके अनुरूप चलने की गति में वह कुछ और कहाँ सोच और देख पाता है, ऐसे में उसका दुःख अव्यक्त उसके भीतर दफ़न रह जाता है। 'कहानी की तलाश में' कहानी का कथानायक रिटायर्ड व्यक्ति है। वह सोचता है कि उसने अपना जीवन ठीक जिया कि नहीं ? वह अतीत की खुशियों की तरफ लौटता दिखाई देता है। वर्तमान में न रहकर आप अपने बीते दिनों की अच्छी स्मृतियों में लौट रहे हैं तो स्पष्ट है आपका वर्तमान संतोषजनक नहीं है | वह समझ नहीं पाता है कि उसके अंदर कई तरह के द्वंद्व चल रहा है। आम व्यक्ति का जीवन अपनी छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति में निकल जाता है लेकिन अहसास उसे तब होता है जब बहुत कुछ निकल चुका होता है। फिर जीवन की नयी बनी स्थिति को स्वीकारने के बजाय अपना ध्यान कहीं और बंटाने की चेष्टा करता है। आज नौकरीपेश मध्यवर्गीय लोगों की लगभग यही स्थिति है। छोटी-छोटी खुशियों के लिए अपना जीवन वे खपा देते हैं और अंत में कई प्रकार के मानसिक रोग के शिकार होते हैं क्योंकि बहुत कुछ करने के बावजूद उनके हाथ खाली रह जाते हैं। 'महँगी किताब', 'उद्विग्नता का एक दिन' और 'प्रतीक्षा के बाद...' आदि कहानियों में भी व्यक्ति के अलकेपन के साथ-साथ उस मनोवृति को भी उभारा गया है जो अक्सर व्यक्ति में अकेला होने के कारण पनपता है, "शायद यह आम हिंदुस्तानी आदत ही है कि हम जब भी कहीं बैठे किसी का इंतज़ार करते होते हैं, तो हम आसपास के लोगों को बड़ी दिलचस्पी से देखते हैं और उनके बारे में कुछ उलटे-पुलटे निष्कर्ष निकालते रहते हैं।"

**"शायद यह आम हिंदुस्तानी आदत ही है कि हम जब भी कहीं बैठे किसी का इंतज़ार करते होते हैं, तो हम आसपास के लोगों को बड़ी दिलचस्पी से देखते हैं और उनके बारे में कुछ उलटे-पुलटे निष्कर्ष निकालते रहते हैं।"**

समकालीन समय में मनुष्य में हताशा, निराशा, क्रोध, इर्ष्या, प्रतिशोध लेने की प्रवृत्ति ऐसे ही अनेक नकारात्मक भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। आज दिखावापन या एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ में मनुष्य को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानसिक दवाब का सामना करना पड़ रहा है जिसके

कारण अक्सर लोग अपने को उसमें फिट नहीं कर पाते तो आत्महत्या उन्हें सहज और सरल रास्ता लगता है और उसका चुनाव उनका अंतिम निर्णय हो जाता है । 'मौत का एक दिन मुअय्यन है, नींद क्यों रात भर नहीं आती' कहानी के कथानायक की पत्नी बिना सोचे समझे आत्महत्या कर लेती है। आज व्यक्ति आत्मकेंद्रित होने के कारण दिन-ब-दिन अपने आप से ही उलझते चला जाता है और अंत में डिप्रेशन का शिकार हो जाता है। डिप्रेशन' आज बड़ों में ही नहीं बच्चों में भी आम समस्या के रूप में उभर कर सामने आ रही है। डिप्रेशन में आकर लोग गलत फैसले ले लेते हैं। 'टिफिन' कहानी की किशोरी विद्या भी घर छोड़ कर कहीं चली जाती है। 'बीज' कहानी की कथानायिका भी डिप्रेशन की शिकार है। उसके पति के लगातार प्रोत्साहन और इलाज का कोई असर नहीं होता है पर अचानक एक दिन महानगर की व्यस्तता को देखकर उसे लगता है जैसे कुछ भी नहीं थमा, सब अपनी गति में चली जा रही है पर वह क्यों थम गयी? मानसिक रोग के शिकार व्यक्ति का आत्मविश्वास से बड़ा कोई इलाज नहीं होता। ऐसी विषम परिस्थिति में अलका की कहानियाँ जीवन के प्रति आस्था जागाती है। 'हर शै बदलती है' कहानी जीवन के प्रति आस्था को शब्द देने के प्रयास में लिखा गया है। आलोच्य कहानी की कथानायिका के मन में कई तरह के द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती रहती है लेकिन कहीं न कहीं जीवन जीने की लालसा है जो उसे कमजोर पड़ने नहीं देती।

अलका सरावगी की पत्र लेखन शैली में लिखी गई 'मिसेज डिसूजा के नाम' कहानी में एक अकेली माँ के मन में चल रहे द्वन्द्व का बखूबी चित्रण हुआ है। उसके अंदर का द्वंद्व सामाजिक विडम्बना की देन है। एक स्त्री अकेले सबकुछ करने में समर्थ होते हुए भी समाज कैसे उस पर ऊँगली उठाता है, जीवन का दबाव किस तरह आम व्यक्ति की सोच और मानसिकता का निर्माण करता है इस कहानी से बखूबी समझा जा सकता है "आप बताइए, मिसेज डिसूजा, जरूरी और गैरजरूरी में कैसे फर्क होता है? मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता।" उसे जितना जरूरी अपने माँ के कर्तव्य को निभाना लगता है उतना ही जरूरी उसके लिए उसका संगीत भी है। उसके मन में उपस्थित द्वन्द्व के कारण उसकी कथनी और करनी में भी फर्क देखने को मिलता है। वह स्वयं अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक नहीं है लेकिन वह दूसरों को कर्तव्य के प्रति निष्ठावान होने की उम्मीद करती है। आलोच्य कहानी समाज द्वारा बनाये स्त्री पुरुष के मध्य के दोहरे मानदंड का विरोध करती है। जिस समाज में पुरुष की स्वतन्त्रता को मान्य और स्त्री की स्वतन्त्रता को निरंकुशता का नाम दिया जाता है। अगर दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तो दोनों को समान अधिकार मिलना चाहिए। 'बहुत दूर है आसमान' कहानी में भी एक छोटी सी बच्ची गुल्लू के अभिभावकों के मन में अपनी बच्ची की स्वतन्त्रता और सुरक्षा में किसी एक के चुनाव को लेकर द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है, "हम यही चाहते हैं न गुल्लू आजाद पक्षी की तरह उड़े, पर यह भी तो चाहते हैं न कि उसके साथ कोई दुर्घटना न हो। हमें सावधान तो रहना ही होगा। इसके सिवाय और हम क्या कर सकते हैं?" आम आदमी का जीवन कुछ ऐसा ही होता है, जीवन के निर्णय में अक्सर द्वंद्व की स्थिति से उसे गुजरना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उस विचार को वरीयता देनी पड़ती है जो अधिक जरूरी है और बेटी की सुरक्षा ज्यादा वजन पा जाती है।

'एक व्रत की कथा' कहानी के माध्यम से भी अलका सरावगी ने प्राचीनता और आधुनिकता के बीच के अंतर्द्वन्द्व को बखूबी उजागर किया है। वर्तमान समय में एक साथ दो-तीन पीढ़ियाँ रहती हैं पर वे आपस में एक-दूसरे के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं, उनके मध्य उनकी वैचारिकता में अंतर होता है। जिसके कारण उसमें द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है। कथानायिका अंधविश्वासों और जड़ मान्यताओं का विरोध करते हुए भी उसे पूरी तरह नकार नहीं पाती है, "सचमुच किसी को कुछ हो गया तो?" आज ऐसे न जाने कितने ही लोग अपने विचारों के द्वंद्व में पड़ कर निर्णय न ले पाने की स्थिति में आते हैं और अंत में सबके बीच अकेले रहने को विवश होते हैं। 'खिजाब' कहानी की दमयंती जहाँ अपने लिए स्वतन्त्रता का चुनाव करती है वहीं अपने बच्चों को अभिव्यक्ति की भी स्वतन्त्रता नहीं देती, "बात सीधी-सी है– यदि स्वतन्त्रता और प्रेम हमारे लिए सचमुच मूल्य हैं, तो हमारी कोशिश होगी कि दूसरों को भी हम इन्हें दें, पर होता अक्सर ऐसा है कि हमारे लिए ये मूल्य नहीं होते, बल्कि सिर्फ अपने लिए बटोरी गई सुविधा मात्र होते हैं। 'ख़िज़ाब' की दमयंती जी सम्बन्धों की सुरक्षा को त्याग कर स्वतन्त्रता का चुनाव करती हैं, पर यही स्वतन्त्रता वे अपनी बेटी तक को नहीं दे पातीं। दरअसल यह एक आत्मकेंद्रित व्यक्ति की स्वतन्त्रता है। यही सलूक 'संभ्रम' की कनक मौसी 'प्रेम' शब्द के साथ करती हैं।" आज व्यक्ति अपने लिए सबकुछ पाना चाहता है लेकिन दूसरों की खुशियाँ उसके लिए कोई मायने नहीं रखता। अपनी कहानियों में अलका ने 'प्रेम' और 'स्वतन्त्रता' को वरीयता दी है लेकिन उनका मानना है कि एक स्त्री की स्वतन्त्रता पुरुष से अलग होकर नहीं बल्कि उसकी सहचारिणी बनकर उसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलने में है। 'लाल मिट्टी की सड़क' कहानी नारी-जीवन की पीड़ा और द्वंद्व के प्रतीक रूप में हमारे समक्ष आती है इसके साथ-साथ स्त्री मन के कई अनसुलझे प्रश्न खड़े करती है। लाल मिट्टी की विशेषता के अनुरूप वंदना भी पुरुषवादी मानसिकता के ताप और दवाब में पली-बढ़ी हैं जिसके कारण वह भी रंध्र युक्त है। उसकी सोच और उसकी समझ दोनों भिन्न है। वह अपने वैवाहिक जीवन में पूर्णतया स्वतंत्र होते हुए भी उस स्वतन्त्रता को सहजता से स्वीकार नहीं कर पाती है, "तो क्या सचमुच मेरा सारा सोचना विचारणा एक औरत होने से ही जुड़ा है? क्या एक व्यक्ति के रूप में मेरी कोई सत्ता नहीं है? जिस अहसास

को वह वर्षों से जीवन के अर्थ की एक गहरी खोज के रूप में देखती आई थी, वह क्या सिर्फ एक कमजोरी भर है? एक सहारे की जरूरत क्योंकि वह दुर्बल है? उसे अपने एक दुर्बल अस्तित्व यानी एक औरत होने का अर्थ समझ में आने लगा और साथ ही दिमाग में यह प्रश्न भी– यदि मैं लड़का होती तो?" वह अपने जीवन के कटु स्थितियों से प्राप्त अनुभवों से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ पाती है। अतः शारीरिक रूप से वह भले ही स्वतंत्र है लेकिन मानसिक रूप से पुरुषवादी मानसिकता की गुलाम बनी रह जाती है उससे अपने को मुक्त नहीं कर पाती।

अलका सरावगी की कहानियाँ समकालीन समय में आम व्यक्ति के द्वंद्व, उसके मानसिक संघर्ष को पकड़ने की चेष्टा है और उसके कारणों की पड़ताल भी। उन्होंने अपनी कहानियों में महानगरीय जीवन बोध की विसंगतियों को बारीकी से उजागर किया है। दिखावेपन की अंधी दौड़ में पड़कर आज व्यक्ति कैसे कृत्रिम व्यवहार के आदी हो चुके हैं इसको दिखाने का प्रयत्न हुआ है । कहानी की तलाश में की सभी कहानियों में आम जीवन और उनके द्वंद्व का चित्रण है जो तत्कालीन समय के साथ आम जीवन की संघर्षपूर्ण जीवन स्थितियों की उपज है | जिसको झेलने के लिए वे अभिशप्त हैं | उन्होंने अपनी कहानियों में केवल आम व्यक्ति के अंतर्द्वन्द्व को ही वाणी नहीं दी हैं वरन अपने समय के परिवेश में बनते बिगड़ते हालातों में व्यक्ति किस तरह अपनी उपस्थिति दर्ज करता है और उसमें कैसे-कैसे मानसिक द्वंद्वों से जूझता है उसकी जीवंत अभिव्यक्ति भी की है।

**संदर्भ ग्रंथ सूची**


1. सरावगी, अलका(2019) कहानी की तलाश में. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन
2. त्रिवेदी, डॉ. प्रीति (2014) नारी विमर्श और अलका सरावगी का कथा साहित्य. कानपुर : अतुल प्रकाशन
3. दुबे, डॉ. शीतला प्रसाद और चौबे, सत्य सुधीर (2013) अलका सरावगी का कहानी साहित्य. कानपुर: अतुल प्रकाशन
4. देवी, डॉ. मोनिका (2018) अंतिम दशक की कहानियों में वैचारिक संघर्ष. कानपुर: विद्या प्रकाशन
5. धूमिल(2018) संसद से सड़क तक. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन
6. वर्मा, आचार्य रामचंद्र(संपा.) (2009) प्रामाणिक हिंदी कोष. इलहाबाद: लोकभारती


## हिन्दी

**हिन्दी भाषा का इतिहास लगभग एक हज़ार वर्ष पुराना माना गया है। हिन्दी भाषा व साहित्य के जानकार अपभ्रंश की अंतिम अवस्था 'अवहट्ठ' से हिन्दी का उद्भव स्वीकार करते हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने इसी अवहट्ठ को 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया।**

**अपभ्रंश की समाप्ति और आधुनिक भारतीय भाषाओं के जन्मकाल के समय को संक्रांतिकाल कहा जा सकता है। हिन्दी का स्वरूप शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से विकसित हुआ है। १००० ई. के आसपास इसकी स्वतंत्र सत्ता का परिचय मिलने लगा था, जब अपभ्रंश भाषाएँ साहित्यिक संदर्भों में प्रयोग में आ रही थीं। यही भाषाएँ बाद में विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में अभिहित हुईं। अपभ्रंश का जो भी कथ्य रूप था - वही आधुनिक बोलियों में विकसित हुआ।**

**अपभ्रंश के सम्बंध में 'देशी' शब्द की भी बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से देशी शब्द एवं देशी भाषा दोनों का बोध होता है। प्रश्न यह कि देशीय शब्द किस भाषा के थे ? भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उन शब्दों को 'देशी' कहा है 'जो संस्कृत के तत्सम एवं सद्भव रूपों से भिन्न है। ये 'देशी' शब्द जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावत: अप्रभंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परंतु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है, प्राकृत-व्याकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अतः जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको देशी संज्ञा दी गई।**

# हिन्दी सिनेमा में दलित जीवन की अभिव्यक्ति

**कुलदीप सिंह**
अतिथि प्राध्यापक, सिक्किम विश्वविद्यालय

**शोध सारांश :**
वर्तमान समय में साहित्य की भांति ही सिनेमा भी एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके माध्यम से समाज अपने अक्स को देखता है। किन्तु यहाँ भी दलित समाज वर्ण व्यवस्था के चलते अपने को हाशिये पर पाता है। लगभग सौ वर्षों के इतिहास में समाज के विभिन्न मुद्दों को लेकर कई फिल्में बनी है किन्तु दलित समाज के उद्धार करने की चिंता,उनमें चेतना का संचार करने का लक्ष्य लेकर फिल्में प्रायः न के बराबर ही बनी हैं।जहां कहीं उनसे जुड़े प्रसंगों का चित्रण हुआ है उनमें उन्हें लाचार, बेबस और असहाय रूप में चित्रित किया गया है। कुछ नया दिखाने का प्रयत्न नहीं हुआ है बल्कि हमेशा वे इसी रूप में दिखाये जाते हैं जिसके कारण समाज में उनकी एक छवि बन गयी है और अक्सर वे उनके प्रति नकारात्मक सोच पैदा करने का काम करती है,जिसे तोड़े जाने की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख हिन्दी सिनेमा में दलित प्रसंगों को लेकर कौन-कौन सी फिल्में बनीं हैं, उनकी क्या वस्तु स्थिति है, उसकी पृष्ठभूमि में कैसे कारण काम करते हैं और इस क्षेत्र में क्या संभावनाएं हैं उसको रेखांकित करने का प्रयत्न हुआ है|

**बीज शब्द:**
सिनेमा, दलित,सवर्ण,वर्ण व्यवस्था, जाति, शिक्षा, निर्देशक, हाशिया उत्पीड़न, व्यथा, आक्रोश, सहानुभूति इत्यादि

भारतीय सिनेमा प्रारंभ से ही सामाजिक विषयों का चादर ओढ़कर अपना पांव पसार रही है,फिर चाहे वह पहली मूक फिल्म 'हरिश्चंद्र' हो या पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा'या कोई अन्य। प्रारम्भिक सिनेमा का मुख्य उद्देश्य हर वर्ग के लोगों का मात्र मनोरंजन करना होता है। इस मनोरंजन के साथ यदि कोई सामाजिक संदेश जुड़ जाए तो वो फिल्म कालजयी बन जाती है। सिनेमा का जन्म सिर्फ मनोरंजन परोसकर पैसे कमाने के लिए नहीं हुआ है। प्रारम्भ से सिनेमा के मजबूत कंधों पर देश-काल और सामाजिक दायित्व का दोहरा बोझ भी रहा है। अपने प्रारम्भिक काल से ही सिनेमा अपने मनमोहक लुभावने अंदाज के साथ-साथ अपनी सरल और प्रभावशाली संप्रेषणीयता के कारण लोगों के लिए आकर्षण का केंद्र रहा है। अपने सौ वर्ष के इतिहास में सिनेमा जगत ने कई विषयों को केन्द्र बनाकर समाज को नई दिशा प्रदान की है किंतु बात जब दलितों के उद्धार के संदर्भ में आती है तो हमें अपना चेहरा शर्म से झुका लेना पड़ता है।अपने शुरुआती दौर में फिल्मों का स्वरूप आदर्शपरक हुआ करता था जिसमे धर्म,परंपरा, मान्यताएँ, राजा-महाराजा, सामंतवाद आदि विषयों को प्रमुखता दी जाती थी। बाद में चलकर यथार्थपरक अभिव्यक्ति को स्थान दिया गया। इन फिल्मों में भी दलितों, पिछड़ों, अल्पसंख्य कों और महिलाओं से जुड़ी समस्याओं को कदापि नहीं उठाया गया। समाज में व्याप्त ऊंच-नीच, वर्ण व्यवस्था, जात-पात, अंधविश्वास आदि कुरीतियों को खत्म करने का प्रयास प्रायः नहीं किया गया। जय प्रकाश कर्दम लिखते हैं "यह कम विडंबनापूर्ण नहीं है कि भारतीय समाज में चिंतन की हर गाड़ी जाति के स्टेशन से बचकर निकलती है जबकि दलितों की सारी समस्याओं के मूल में सबसे बड़ा कारक जाति है। भारतीय सिनेमा का नजरिया भी इससे भिन्न नहीं

है। दलितों के प्रति करुणा दिखाकर वह 'अछूत कन्या', 'अछूत', 'सुजाता', 'बूट पॉलिश' और 'सदगति' जैसी फिल्मों का निर्माण तो करता है किन्तु जिस तल्खी और शिद्दत से जाति के प्रश्न को उठाए जाने की जरूरत है, उस तरह से नहीं उठाता। "[1]बाद में चलकर कुछ लोगों के प्रयासों द्वारा फिल्मों में दलित समाज के लोगों की यथा-व्यथा को आंशिक रूप में उभारना शुरू किया गया। जिस किसी भी फिल्म में उनसे जुड़े मुद्दे को उठाया गया वहाँ उन्हे सवर्णों के मनोरंजन करने के संदर्भ में ही लिया गया। वास्तव में आरंभिक फिल्मों में उनके उद्धार को लेकर कोई ठोस पहल नहीं की गयी। इतिहास में ऐसे कई दलित वीर योद्धा हैं जिनकी आवाज को धार्मिक ग्रन्थों में दबा दिया गया। साथ हीं उन्हें दबाने का काम केवल धार्मिक ग्रन्थों में ही नहीं बल्कि फिल्मों में भी खूब किया गया है।

धार्मिक ग्रंथ 'रामायण' और 'महाभारत' में आए हाशिये के पात्र 'शंबूक' एवं'एकलव्य' की कथा सभी को ज्ञात है कि किस प्रकार से ये पात्र सवर्णवादी मानसिकता के शिकार हुए हैं?किस प्रकार वर्ण व्यवस्था के चलते इनके साथ छल किया गया?किस प्रकार इनकी प्रतिभा को दबा दिया गया यह जग जाहीर है। वर्तमान समय में साहित्य की भांति सिनेमा में भी दलित चेतना नदारद है।आज भी ज्यादातर फिल्मों में दलितों को फिल्म का अंगी न मानकर बतौर अंग भर मान लिया जाता है,उनका उपयोग केवल मुख्य कथा को आगे बढ़ाने वाले पात्र, साइड केरेक्टर, कोरस गाने वाले या भीड़ के रूप में चित्रित किया गया है।

दलित मुद्दों को लेकर पहली बार 'अछूत कन्या','अछूत' जैसी फिल्मों का बनना प्रारम्भ हुआ और तभी से लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित होने लगा। 'मौसी', 'सुजाता', 'दाग' आदि फिल्मों में सामाजिक रूढ़िवाद और अंधविश्वास के खोखलेपन का चित्रण अत्यंत मनोरंजक व नाटकीय शैली में दिखाने का प्रयास हुआ है। सामाजिक भावनाओं और मानवीय संवेदनाओं को व्यक्त करने वाली ये उत्कृष्ट फिल्म हैं। इन फिल्मों में नायिकाएँ अछूत समाज से हैं जबकि नायक सवर्ण समाज से। दोनों के संयोग में समाज की मान्यताएँ अवरोध का काम करती हैं। लोगों में चेतना का संचार करने का काम ये फिल्में करती हैं। 'अछूत कन्या' के बारे में बताते हुए प्रहलाद अग्रवाल लिखते हैं "अछूत कन्या में छुआछूत के अमानवीय कृत्य को बड़ी तीव्रता से उकेर कर उसकी भर्त्सना हुई है। यह उस समय के लिए कोई आसान काम नहीं था। यह बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध था और राष्ट्र इस समस्या से गहराई तक ग्रस्त था।"[2]इसी दौरान और भी फिल्में आती हैं जिसमे छुआछूत को केंद्र में रखकर 'धर्मात्मा' (1934) वेश्यावृत्ति को केंद्र में रखकर 'ठोकर' (1937) आदि आती हैं जिसमें दोनों के मेल होने में समाज की मान्यताएँ अड़चन पहुंचाने का काम करती हैं। अब तक की प्रकाशित फिल्मों के नाम हैं - अछूत कन्या (1936), जीवन प्रभात (1937), सती (1938), अछूत (1940), सत्यकाम (1946), दो बीघा जमीन (1953), बुटपॉलिश (1954), सुजाता (1959), परख (1960), फूल और पत्थर (1960), गंगा जमुना (1961), बाबी (1973), अंकुर 1974 , निशांत (1975} मंथन (1976), आक्रोश (1980) सद्गति (1981), दामुल (1985), भीम गर्जना (1989), धारावी (1991), बैंडिट क्वीन (1994) बवंडर(2000) लगान (2001), लज्जा (2001), मातृभूमि (2005), मोहनदास (2009),मांझी,सैराट, आरक्षण, आर्टिकल 15, काला जैसी आदि अनेक फिल्मों का नाम लिया जा सकता है जिसमे दलित प्रसंगों को बड़ी तल्लीनता के साथ उभारा गया है।

इनमे से ज़्यादातर फिल्मे एक ही ढर्रे पर दलितों की व्यथा को व्यक्त करती हैं जिसमे दलितों को असहाय, निरक्षर,निम्न काम करने वाला, शोषित,पीड़ित,लाचार, आदि के रूप में उद्घाटित किया गया है। हिन्दी सिनेमा द्वारा दलित समाज के लोगों की उपेक्षा किए जाने के पीछे का मुख्य कारण हाशिये के समाज के लोगों का गरीब होना है। इसीलिए पहले की प्रायः जितनी भी फिल्में हैं उनमें हाशिये के समाज के लोगों की अनदेखी की गयी है और किसी कारणवश उनका जिक्र आया भी है तो उन्हें दबा-कुचला, मजदूरी करने वाला, शोषण का शिकार, ऋण ग्रस्तता में जीवन जीने को मजबूर, खेत खलिहान में काम करने वाला आदि रुप में चित्रित किया है। अगर किसी निर्देशक ने दलित पात्रों को बतौर मुख्य नायक चित्रांकन किया भी है तो वह फिल्म ज्यादा दिनों तक सिनेमाघरों में नहीं दिखाई दी। हिन्दी सिनेमा में कुछ ऐसी फिल्में भी हैं जो मुख्य धारा के लोगों में विशेष पहचान नहीं बना पायी हैं किन्तु दलित समाज के लोगों में उसकी लोकप्रियता बढ़ी है,उन्हें उनके अधिकार और चेतना से उसका जुड़ाव लगा है। ऐसे फिल्मों में भीम गर्जना (1989) धारावी (1991) रुदाली (1992), मोहनदास (1999), शूद्र : द राइजिंग (2012) तीसरी आजादी। इस दिशा में डॉक्युमेंट्री फिल्मों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है जिसमे प्रतिरोध, विकास बंदूक की नोट पर, अनटचेबल, पिस्तुलिया, ह्यूमन जू, फूंडी आदि महत्वपूर्ण हैं।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी व्यक्ति की छवि को यदि बार-बार एक ही रूप में दिखाया जाता रहे तो समाज उसके प्रति वैसी ही धारणा विकसित कर लेता है। दलितों को हमेशा इसी रूप में दिखाये जाने की वजह से उन लोगों के प्रति समाज में ऋणात्मक सोच बना है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता है|इनका प्रभाव छोटे बच्चों तथा युवाओं पर नकारात्मक प्रभाव डालता है। यहीं बड़े होकर उनसे कन्नी काटने लगते हैं और शुरू होता है ऊंच-नीच का खेल, छुआछूत का खेल, स्पृश्य और अस्पृश्यता का खेल। हालांकि कई फिल्मों में दलितों को,बतौर नायक-नायिका के तौर पर भी फिल्माया गया है किन्तु ऊंच-नीच,जाति,धर्म,के बंधन में डालकर या तो उनका कत्ल करवा दिया जाता है या फिर

हवालात में डाल दिया जाता है। इस का परिणाम यह होता है कि दलितों की चेतना पनपने के पहले ही दब जाती हैं ।

## हिन्दी सिनेमा में चित्रित दलित वर्गों के विभिन्न रूप

### 1. हिन्दी सिनेमा में दलित बाल-जीवन

हिन्दी सिनेमा में दलित बालकों का चित्रण अधिकांशतः बाल-मजदूर के रूप में ही दिखाया गया है । दलित समाज के बच्चों को ज़्यादातर किसी होटल में काम करते, पुलिस चौकी में चाय पहुंचाते,होटलों में टेबल व बर्तन साफ करते, किसी गैराज में मोटर कार की धुलाई करते, किसी पर्यटन स्थल पर गुब्बारे बेचते, स्टेशन पर भीख मांगते, प्लेटफॉर्म पर रुमाल में ड्रग्स का सेवन करते,गाँवों में किसी चट्टी-चौराहों पर तास के पत्ते फेंकते,खोमचे लगाते या किसी मेले में कोई करतब दिखाते दिखाया गया है । ठीक इसी तरह दलित लड़कियां घर पर ही रहकर तमाम तरह की जिम्मेदारियों - खाना बनाते, मवेशियों को चारा खिलाते, जंगल से लकड़ियाँ काटते, छोटे भाई-बहन की देखभाल करते, बर्तन धोते, उपले पाथते, झाड़-पोछा करते दिखाया गया है । फिल्मों में भी लड़के और लड़कियों के भेद को बखूबी दिखाया गया है । ‘मातृभूमि’ फिल्म में लिंगानुपात की समस्याओं को बताया गया है । जिसके संदर्भ में डॉ देवेन्द्र नाथ सिंह, डॉ वीरेंद्र सिंह यादव,भारतीय हिन्दी सिनेमा की विकास यात्रा एक मूल्यांकन में लिखते हैं “भ्रूण में शिशु बालिकाओं एवं नवजात बालिकाओं की हत्या और घटते लिंगानुपात को संबोधित करती है ।”[3] बच्चों के माँ- बाप,गरीबी और अशिक्षा के चलते उनके शिक्षा के प्रति विशेष ध्यान नहीं देते हैं इसलिए जिस उम्र में उनकी हाथों में किताबें और कलम-कापियाँ होनी चाहिए थी उस समय उनके कमजोर कंधों पर परिवार के दायित्व का बोझ दे दिया जाता है ।किसी भी फिल्म में इनकी शिक्षा को लेकर कोई प्रबंध नहीं मिलता है । इनकी शिक्षा में सबसे बड़ी बाधा अंग्रेजी मीडियम की शिक्षा को लेकर होती है। अधिकतर दलित बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं जहां के शिक्षक उन्हें पढ़ाने के बजाय उन्हें साफ-सफाई वाले कार्यों में ही उलझाकर रखते हैं । उनके साथ छूत-अछूत का व्यवहार करते हैं । ज्ञान विज्ञान और तकनीकी शिक्षा अंग्रेजी में बेहतर ढंग से दी जाती हैं । ऐसे में अंग्रेजी जानने वाले बच्चों को रोजगार के क्षेत्र में संभावनाएं अधिक रहती हैं । दलित बच्चे जिन स्कूलों से पढ़कर निकल रहें हैं उनका कंप्यूटर से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है जबकि पब्लिक और कान्वेंट स्कूलों में प्राइमरी स्तर से कंप्यूटर की शिक्षा दी जाती है । प्राइवेट संस्थानों से कंप्यूटर शिक्षा लेना इतना महंगा है कि रोटी का ठीक से जुगाड़ न कर पाने वाले दलितों के लिए यह किसी दुःस्वप्न से कम नहीं । दलितों की इन चुनौतियों को लेकर आज तक कोई फिल्म नहीं बन पायी ।”[4] आर्थिक विपन्नता के चलते इनके खाने-पीने का कोई ठिकाना नहीं रहता है जिसकी वजह से इनके शरीर का उचित विकास नहीं हो पाता है और शरीर कमजोर हो जाता है । न इन्हे खाने की सुध रहती है और न ही पहनने की । सवर्ण बच्चों के तुलना में ये अपने को कमतर आँकने लगते हैं जो बाद में चलकर कुंठा का रूप ले लेता है तथा भावी जीवन में गलत रास्ता अख़्तियार कर लेते हैं ।‘स्लमडॉग मिलियेनर’,‘बूट पॉलिश’ ‘सैराट’, ‘चौरंगा’ आदि फिल्मों के माध्यम से दलित समाज के बच्चों की यथास्थिति को देखा जा सकता है ।

### 2. हिन्दी सिनेमा में दलित नवयुवक

समुचित शिक्षा और उचित कार्य कौशल के अभाव में ज़्यादातर दलित युवाओं को सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं में नौकरी नहीं मिलती है । प्राइवेट संस्थाओं में भी इनके साथ जातिगत व्यवहार किया जाता है । काम ज्यादा और पैसा कम दिया जाता है ।जमीन व जायदाद के नाम पर वैसा कुछ नहीं रहता कि खेती बारी या अपना कोई व्यवसाय करें इसलिए हिन्दी सिनेमा में ज़्यादातर युवाओं को खेतों में मजदूरी करते, बड़ी-बड़ी फैक्टरियों और कंपनियों में श्रम करते, शहरों में गटर आदि की सफाई करते,किसी जुलूस में भीड़ इकट्ठा करने के लिए ही इनको लिया जाता है । परिवार की जिम्मेदारियाँ निभाते-निभाते ये उसी व्यवस्था को जीने को मजबूर हो जाते हैं ।बाद के फिल्मों में विभिन्न आंदोलनों के प्रभाव से इनमें उस व्यवस्था के प्रति आक्रोश को भी दिखाया गया है । ‘पार’ फिल्म जो कि ‘दामुल’ की अगली कड़ी के रूप में आती है जो बिहार के गाँव देहात में दलितों के चुनाव में खड़े होने और सवर्णों के कुचक्रों से मिली असफलता को बयान करती हैं । स्वाधीनता संग्राम और राष्ट्रीय नव-निर्माण को लेकर देश में बहुत सी फिल्में आई किन्तु देश को आजादी दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले दलित युवाओं का चित्रण किसी भी फिल्म में बतौर मुख्य नायक के रूप में कभी नहीं उभारा गया है ।

### 3. हिन्दी सिनेमा में दलित बुजुर्ग

हिन्दी सिनेमा में बुजुर्गों को परंपरावादी और वर्णवादी मानसिकता के पोषक रूप में दिखाया गया है । इसका कारण है कि उन्होंने अपने जीवन काल में उन्हीं पहलुओं को जिया,जिसकी वजह से अक्सर उनको नई पीढ़ी की मान्यताओं से अंतर्विरोध रहता है । नई पीढ़ी के दलित युवाओं में जहां परंपरा और दकियानुषी मान्यताओं को उखाड़ फेकने पर ज़ोर दिया जाता है तो वहीं दलित बुजुर्ग उनके अनुपालन को ही महत्त्व देते हैं । वे अभी भी डरे सहमे है और कहीं न कहीं यह सोचते हैं कि परंपरा के विरुद्ध जाने पर सवर्ण मानसिकता के कोप का भाजक बनना पड़ेगा । इसलिए वे यथास्थिति में कोई भी परिवर्तन नहीं चाहते हैं । हिन्दी सिनेमा में ज़्यादातर दलित बुजुर्गों को ऋण ग्रस्तता और बीमार ही दिखाया गया है । अर्थ के साधन न होने पर मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महाजन से पैसा सूद पर लेते

हैं और ताउम्र उसी कर्ज की भरपाई करने में अपना जीवन गवां देते हैं फिर भी कर्ज उतरने का नाम नहीं लेता है । उस कर्ज को उनके बच्चे भी नहीं उतार पाते हैं और उन्हीं के यहाँ बंधुआ मजदूरी करने को बाध्य होते हैं।

### 4. हिन्दी सिनेमा में दलित नारी

समाज में रहते हुए नारी भी हाशिये के समाज का हिस्सा हैं। उनके प्रति भी समाज दोयम दर्जे की मानसिकता रखता है। इस दोयम दर्जे में दलित महिलाएं सवर्ण महिलाओं की अपेक्षा शोषण का शिकार अधिक होती हैं । एक तो नारी ऊपर से दलित । हिन्दी सिनेमा भी इन दलित महिलाओं के उत्थान के प्रति निष्क्रिय रहीं हैं। अब तक के सिनेमाई इतिहास में दलित महिलाओं का चित्रण मात्र वस्तु, बेचारगी,लाचारी आदि के रूप में किया गया जिसका जब चाहा उपयोग किया और फेंक दिया ।"कोई सवर्ण या सामंत जब चाहे तब दलित स्त्री को अपनी वासना का शिकार बना सकता है, रजामंदी से या जबरन ।"[5] इनका चित्रण सवर्ण व सामंत की नगरवधू के अलावा,काम करने वाली बाई, नर्स, दाई के रूप में हुआ है । सिनेमा में दलित महिलाओं के साथ बलात्कार का सीन प्रस्तुत कर निर्देशक फिल्म में मसाला डालना चाहता है ताकि फिल्म दर्शकों को लुभाए, किन्तु कहीं न कहीं यह उनकी सच्चाई को भी बयां करती है । दलित महिलाओं को सवर्ण समाज की ऐय्याशी के साधन के रूप में ही खूब उभारा गया है । पुरुष प्रधान समाज में सारे अधिकार पुरुषों के हाथों में होने से वे लाचार और बेबस हैं । समाज में उनकी भूमिका केवल बच्चा पैदा करने की मशीन और शादी के समय लाने वाले दहेज के रूप में ही रह गयी है । इस वजह से लोग घर में बेटी पैदा होने पर खुशी मनाने के बदले चिंता में डूब जाते हैं । भ्रूण परीक्षण कानूनन अपराध होते हुए भी तमाम तरह के हथकंडे और टोने-टोटके अपनाते रहते हैं ताकि गर्भ में पल रहे बच्चे का लिंग पता कर सके । जब मालूम पड़ता है कि गर्भ में पल रहा बच्चा लड़की है तो गर्भपात करवा दिया जाता है । जहां भ्रूण परीक्षण की सुविधा नहीं रहती है वहाँ बेटे की चाह में न जाने कितने बच्चे पैदा हो जाते हैं । लड़के की चाह भी कहीं न कहीं जनसंख्या वृद्धि का अन्यतम कारण है । इस वजह से समाज में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या कम है । समाज में स्त्री की संख्या कम होने पर क्या दिक्कतें आती हैं इसका उदाहरण हमें 'मातृभूमि'जैसी फिल्म में देखने को मिलता है,जहां एक ही लड़की से चार-चार लोग शादी करते हैं । इस फिल्म के माध्यम से दलित समुदाय की वर्गगत और जातिगत अवस्था को देखा जा सकता है । इस फिल्म के बारे में सोमा बाधवा लिखते हैं "Without women men are not human. This metamorphosis of the made into animal if the world were to become women less is the theme of Matrubhumi. A nation without woman''"[6] 'यत्र नारी पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' वाली कहावत केवल किताबों तक ही सीमित होकर रह गयी है । वर्तमान समय में उनके लिए यह कहावत निकल पड़ी है कि 'लड़कियां तो गाय है चाहे ब्राह्मण को दान दे दो या कसाई को बेच दो' । महिलाओं के साथ हो रहे इन बर्ताव के चलते घर की आर्थिक स्थिति को दुरुस्त करने के चक्कर में अक्सर उन्हें सवर्णों के आगे झुकना पड़ता है । रेड लाइट एरिया, वेश्याबाजार में काम करने वाली प्रायः महिलाएं मजबूरी में ही उस पेशे को चुनती हैं । इन महिलाओं के माध्यम से कामुकता को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है । प्रायः सभी फिल्मों में दबंग सवर्णों द्वारा इनकी इज्जत के साथ खिलवाड़ करते दिखाया गया है। पहले जहां वे चुपचाप परिस्थितियों को झेल जाती थीं वहीं अब इनका विरोध करने लगी हैं । हिन्दी सिनेमा के अब विभिन्न पात्र सवर्णों के अत्याचार को चुप-चाप नहीं सहते हैं बल्कि अब कड़े शब्दों में उनका विरोध करते देखे जाते हैं । "यूं 'आक्रोश' का नायक बलात्कारी की हत्या करके उसे सजा देता है तथा 'अंकुर','मंथन' आदि फिल्मों के नायक भी व्यवस्था का प्रबल प्रतीकार करते हैं । किन्तु दलित व्यक्ति शोषण के आगे झुके नहीं वह शोषण और अन्याय का प्रतीकार करे यह संदेश देने वाली सबसे सशक्त फिल्म 'बैंडिट क्वीन'ही दिखाई देती है जिसमे दलित युवती फूलन देवी सवर्ण हिंदुओं द्वारा अपने साथ किए जाने वाले अमानुषिक अत्याचार का बदला लेती है ।"[7] दलित उत्पीड़न की एक झलक जो हम फिल्म' बैंडिट क्वीन' में देखते हैं उसका विस्तार रूप 'बवंडर'(2000)में देखने को मिलता है । लज्जा (2001) भी एक ऐसी फिल्म है जिसके माध्यम से स्त्री की उपेक्षिता फिर चाहे वह किसी भी देश या समाज की हो को देखा जा सकता है । इसी तरह मातृभूमि (2003) फिल्म में निर्देशक मनीष झा ने समाज में स्त्री उत्पीड़न की मार्मिक दास्तां को बया किया है । इसके माध्यम से उनकी दशा और दिशा पर प्रकाश डाला गया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य की तरह ही सिनेमा में भी दलित समाज हाशिये पर ही है । वर्ण व्यवस्था के चलते फिल्मों में भी इनके साथ भेदभाव किया जाता रहा है । सिनेमा जगत की महत्वपूर्ण हस्तियों ने कभी भी इस दिशा में पहल नहीं की । अगर किसी ने पहल की भी है तो वह दिखावा मात्र के लिए, उनका वर्णन केवल मुख्य कथा को आगे बढ़ाने वाले सहायक के रूप में ही किया गया है । 'काला', 'आक्रोश', 'दामुल' आदि फिल्मों में सामाजिक भेदभाव को लेकर फिल्मे आई हैं किन्तु इन फिल्मों में भी सामाजिक अव्यवस्था के कुछ बिन्दुओं का ही चित्रण हुआ है । इस पटल पर मराठी फिल्मों में बहुत सी ऐसी फिल्मे बनी है जिसमे 'शूद्र', 'तीसरी आजादी' 'डॉ अंबेडकर' 'अनटचेबल', 'सैराट', 'चौरंगा' आदि फिल्मों को गिनाया जा सकता है जिसमे दलित समाज से जुड़े विभिन्न मुद्दों को उजागर कर दलितों में चेतना फूंकने का काम किया है । समाज में एकता लाने के लिए जरूरी है कि अनमेल विवाह को बढ़ावा दिया

जाए । किन्तु ऐसी फिल्मों में भी स्त्री प्रायः दलित समाज से होती हैं जिनकों सवर्ण परिवार के लोगों का कोप भाजक बनना पड़ता है । अक्सर उनसे ज़ोर जबर्दस्ती करना, उन्हे मार देना, जलाना, प्रताड़ित करना, बदचलन साबित करना, ताने मारना, मानसिक दबाव डालने वाला आदि व्यवहार किया जाता है ताकि वें घर छोड़ कर भाग जाएं । 'सुजाता' फिल्म में विमल राय ने परंपरा से हटकर सवर्ण और अवर्ण के विवाह से नयी परंपरा की शुरुआत करती है जो सामंती व्यवस्था में स्वीकार्य नहीं था । इसके लिए उन्हे घोर विरोध का सामना भी करना पड़ा था । 'दीक्षा' एक ऐसी फिल्म है जिसमें सवर्ण स्त्री का भोग दलित पात्र करता है । इन फिल्मों से नयी परंपरा की शुरुआत होती है । हाल ही में आई फिल्म 'दम लगा के हईसा' अनमेल विवाह को बखूबी बयान करता है ।

## निष्कर्ष

समाज में मौजूद सभी वर्गों का उचित प्रतिनिधित्व सिनेमा जगत में होना चाहिए | सिनेमा समाज में जागरण और चेतना लाने का बड़ा माध्यम है,इसका प्रसार बड़े फलक पर होता है इसलिए दलितों के प्रति सिनेमा जगत को संवेदंशील होना चाहिए | दलितों में स्वाभिमान जगाने तथा उनके महापुरुषों पर केन्द्रित फिल्म का भी निर्माण करना चाहिए,कुछ ऐसी फिल्में बनाई जाए जो 'अछूत', 'सद्गति' तथा 'बूट पॉलिश' से उच्च स्तर की हो । 'मांझी','मसान'आर्टिकल 15 आदि इसी तरह की फिल्में हैं जिसमें इस समाज के यथार्थ को दिखाने का प्रयत्न हुआ है । सिनेमा जगत में दलित जीवन पर आधारित फिल्मों में वास्तविक समस्याओं को संपूर्णता से प्रस्तुत नहीं किया गया है जिसकी आवश्यकता है । दलितों की यथास्थिति का मुख्य कारण 'संगठन का अभाव' और 'अशिक्षा' है। 'शिक्षा' के अभाव में आज भी दलित वर्ग को भाग्य तथा भगवान का भय दिखाकर सताया जा रहा है और वे इस संकट को इस प्रकार सोचते हैं कि न्याय के दरवाजे तक पहुँचने में जो आर्थिक खर्चा आएगा वह उसे वहन करने में सक्षम नहीं हैं । जीवन में एक पिछड़ापन उनके समाज में है जो उनकी अशिक्षा और समाज का उनके प्रति सौतेले व्यवहार से उत्पन्न हुआ है | दलित समाज और जीवन पर केन्द्रित ऐसी फिल्मों की आवश्यकता है जो उनकी जड़ता ,उनके मानस में बंधा हुआ भ्रम भ्रम को तोड़ सकें,साथ ही संघर्ष और संगठन के महत्व को भी उनके सामने प्रस्तुत करना होगा । सच मानिए जिस दिन समाज में इस तरह की फिल्में आने लगेंगी तो वह दिन दूर नहीं है जब भारत का एक नया चेहरा बनना शुरू होगा | जिसमें व्यक्ति की पहचान उसके धर्म एवं जाति के आधार पर नहीं बल्कि उसके कर्मों के आधार पर होगी यह तभी संभव हो सकता है जो दलित होने के बोझ से कहीं अपने को मुख्य समाज से अलग -थलग पाता है | सिनेमा जगत को दलित जीवन का यथार्थ चित्रित करना होगा बल्कि कहे तो उनके जीवन संघर्ष के साथ उनके भीतर कुलबुलाते उनके आक्रोश को जुबान देनी होगी ताकि समाज अपने स्तर पर उन प्रश्नों और आक्रोश को समझ सकें| उनकी दीन-हीन अवस्था का चित्रण बहुत हो चुका अब उनके भीतर समय की गति के साथ जो परिवर्तन और चेतना आई है उसको चित्रित करने की आवश्यकता है ताकि दलितों को भी इस बात का अहसास हो किजातिगत बेड़ियों के बंधन समय के साथ धीरे -धीरे खुल रहे हैं,संवाद का सुंदर अवसर का निर्माण हो रहा है,ऐसे सकारात्मक माहौल में विद्वेष नहीं बल्कि सुन्दर भारत और समाज की हम कल्पना कर सकते हैं |

संदर्भ


1. मृत्युंजय. (2006). *सिनेमा के सौ बरस* .(सं), पृष्ठ संख्या 305-06. दिल्ली : शिल्पायन प्रकाश.
2. बिसारिया, जे. (2012-13) *हिन्दी सिनेमा में प्रतिरोध की संस्कृति दलित और हाशिये का समाज.* प्रजापति, महेंद्र (सं),समसामयिक सृजन, अक्टूबर-मार्च, पृ 47-62
3. सिंह, डॉ. देवेन्द्र नाथ और यादव,डॉ. सिंह वीरेंद्र (2012) *भारतीय हिन्दी सिनेमा की विकास यात्रा एक मूल्यांकन.*दिल्ली 110094 : पेसिफिक पब्लिकेशन, पृ 317
4. मृत्युंजय. (2006). *सिनेमा के सौ बरस.* (सं), सिनेमा के सौ बरस से (पृष्ठ संख्या 309). दिल्ली : शिल्पायन प्रकाश.
5. मृत्युंजय. (2006). *सिनेमा के सौ बरस* . (सं). सिनेमा के सौ बरस से (पृष्ठ संख्या 307). दिल्ली : शिल्पायन प्रकाश.
6. सिंह, डॉ देवेन्द्र नाथ और यादव, डॉ वीरेंद्र सिंह. (2012) *भारतीय हिन्दी सिनेमा की विकास यात्रा एक मूल्यांकन.* दिल्ली 110094 : पेसिफिक पब्लिकेशन, पृ 317
7. मृत्युंजय. (2006). *सिनेमा के सौ बरस* .(सं).सिनेमा के सौ बरस से (पृष्ठ संख्या 308). दिल्ली : शिल्पायन प्रकाश.

# प्रेमचंद और हमारा समय

**नीलम कुमारी**
असिस्टेंट प्रोफेसर
दिल्ली विश्वविद्यालय के राजधानी कॉलेज में एन.सी.डब्लू.ई.बी.

**सारांश**
*इस आलेख में प्रेमचंद तथा उनकेसाहित्य को कोरोनाकाल से जोड़कर देखने का प्रयास किया गया है।महामारी के विरुद्ध चिकित्सकों और समाजसेवकों का संघर्ष तथा उनके महत्व को रेखांकित किया गया है जिसमें अपने कर्तव्य से भागने वाले चिकित्सकों तथा समाजसेवकोंका भी वर्णन किया गया है। रोटी, कपड़ा और मकान के लिए तरसते मज़दूरों की समस्या हमारे समय की समस्याओं से एकमेक होती नज़र आती है। शिक्षा और रोज़गार प्रेमचंद के बाद भी आम आदमी के लिए अहम मुद्दा बना रहा। जातिगत भेदभाव, स्त्रियों की शिक्षा, सत्ता का भ्रष्ट चरित्र इत्यादि के साथ-साथ प्रेमचंद किसान जीवन का चित्रांकन भी अपने लेखन में किया हैजिसे आज के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जा सकता है।प्रेमचंद  ने साहित्य और पत्रकारिता के लिए सत्ता और पूँजीपतियों को खतरे के रूप में देखा। भाषा का मुद्दा वैश्विक समस्या के रूप में प्रमचंद और हमारे समय का महत्वपूर्ण विषय है। उपरोक्त विषयों को प्रेमचंद के साथ-साथ हमारे समय से भी जोड़कर इस लेख में देखा गया है।*

**बीजशब्द**
कोरोनाकाल, विमुद्रीकरण, बीप, मॉब लिंचिंग।

२०२० ई. दुनिया की सबसे प्रभावी घटना कोरोना महामारी का प्रसार और उसके खिलाफ मानव की अदम्य जिजीविषा का अनवरत संघर्ष बन गई है। ऐसे में साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, सामंतवाद, पितृसत्ता, धर्मसत्ता, राजसत्ता आदि के शोषण के विरुद्ध सच्चाई की मशाल जलाने वाले प्रेमचंद साहित्य की ओर उम्मीद भरी निगाहों का आकर्षण स्वाभाविक है। यह देखकर बड़ा सुकून मिलता है कि स्वास्थ्य, शिक्षा, रोटी, पानी, स्वतंत्रता, समानता, गरिमामय जीवन आदि की कर्मभूमि में प्रेमचंद आज भी किसी गुरु की तरह हमारा मार्गदर्शन करने में सक्षम हैं।

कोरोना महामारी की भयावहता ने अनायास ही दुनिया का ध्यान लगभग एक सदी पूर्व, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद, फैली महामारी स्पेनिश फ्लू की ओर खींच लिया। फरवरी १९१८ से अप्रैल १९२० के बीच चार लहरों में फैली इस महामारी ने दुनिया की तिहाई आबादी को अपनी चपेट में ले लिया था। महामारी से सबसे बुरी तरह प्रभावित होने वाला देश भारत था जहां लगभग डेढ़ करोड़ लोग मारे गए थे। इन्हीं दिनों प्रेमचंद 'प्रेमाश्रम' लिख रहे थे। प्रेमाश्रम में इस बीमारी का नाम अज्ञात है लेकिन उसकी तबाही कोरोना द्वारा मुंबई में फैलाई गई तबाही जैसी ही भयानक है। 'प्रेमाश्रम' के लखनपुर में महामारी के कारण हुई तबाही का उल्लेख करते हुए कादिर प्रेमशंकर से बीमारी के संबंध में कहता है- "सरकार, कुछ न पूछिए कम तो न हुई और बढ़ती जाती है। कोई दिन नागा जाता कि एक-न-एक घर पर बिजली न गिरती हो। नदी यहाँ से छः कोस है। कभी-कभी तो दिन में दो-दो, तीन-तीन बेर जाना पड़ता है।"  लखनपुर की तबाही केवल स्पेनिश फ्लू की तबाही की याद से ही नहीं जुड़ती बल्कि वह आज की तबाही से भी जुड़ जाती है।

महामारी के विरुद्ध चिकित्सकों तथा समाजसेवकों का संघर्ष उनके महत्व को नए सिरे से स्थापित करता है। 'गोदान' में गोबर के बालक मंगल को चेचक होने पर मालती की सक्रियता और सेवाभाव चिकित्सकों के लिए मार्गदर्शक होने की योग्यता रखता है। मालती ने न केवल मंगल को सीलन भरी कोठरी से निकालकर अपने साफ-सुथरे आरामदायक बैठक में रहने की सुविधा दी बल्कि रात-रात भर जागकर उसकी देखभाल की। प्रेमचंद मालती को चेचक से लड़कर पराए शिशु को भी मृत्यु के मुँह से बाहर लाने वाले रूप में चित्रित करते हुए लिखते हैं कि-"रात को बच्चे का ज्वर तेज हो जाता और वह बेचैन होकर दोनों हाथ ऊपर उठा लेता।

मालती उसे गोद में लेकर घंटों कमरे में टहलती। चौथे दिन उसे चेचक निकल आई। मालती ने सारे घर को टीका लगाया, खुद को टीका लगवाया, मेहता को भी लगा। गोबर, झुनिया, महराज कोई न बचा। पहले दिन तो दाने छोटे थे और अलग-अलग थे। जान पड़ता था, छोटी माता है। दूसरे दिन दाने जैसे खिल उठे और अंगूर के दानों के बराबर हो गए और फिर कई-कई दाने मिलकर बड़े-बड़े आंवले जैसे हो गए। मंगल जलन और खुजली और पीड़ा से बेचैन होकर करुण स्वर में कराहता और दीन, असहाय नेत्रों से मालती की ओर देखता। उसका कराहना भी प्रौढ़ों का-सा था, और दृष्टि में भी प्रौढ़ता थी, जैसे वह एकाएक जवान हो गया हो। इस असह्य वेदना ने मानों उसके अबोध शिशुपन को मिटा डाला हो। उसकी शिशु-बुद्धिमानों सज्ञान होकर समझ रही थी कि मालती ही के जतन से वह अच्छा हो सकता है। मालती ज्यों ही किसी काम से चली जाती, वह रोने लगता। मालती के आते ही चुप हो जाता। रात को उसकी बेचैनी बढ़ जाती और मालती को प्रायः सारी रात बैठना पड़ जाता, मगर वह न कभी झुंझलाती, न चिढ़ती।" १५ दिनों के मालती के संघर्ष ने मंगल को निरोग कर दिया। मेहता ने और उनके जरिए प्रेमचंद ने ऐसे चिकित्सक में देवी का उज्ज्वल स्वरूप देखा जो आज के कर्मठ चिकित्सकों के समर्पण और त्याग के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने का मार्ग होने की संभावना रखता है।

**प्रेमचंद अपने समय में समाज के विभिन्न पक्षों को देख पाने में समर्थ थे। इसलिए उनका साहित्य हमारे समय के समाज के विभिन्न पक्षों के साथ सरोकार बिठाने में समर्थ हो सका है। महामारी के दौरान अपने कर्तव्य से भागने वाले चिकित्सकों और समाजसेवकों का स्वार्थी रुख कोरोना काल में भी सामने आया है। प्रेमचंद की 'उपदेश' और 'मंत्र' जैसी कहानियों में भी यह रूप चित्रित हुआ है।**

प्रेमचंद अपने समय में समाज के विभिन्न पक्षों को देख पाने में समर्थ थे। इसलिए उनका साहित्य हमारे समय के समाज के विभिन्न पक्षों के साथ सरोकार बिठाने में समर्थ हो सका है। महामारी के दौरान अपने कर्तव्य से भागने वाले चिकित्सकों और समाजसेवकों का स्वार्थी रुख कोरोना काल में भी सामने आया है। प्रेमचंद की 'उपदेश' और 'मंत्र' जैसी कहानियों में भी यह रूप चित्रित हुआ है। 'उपदेश' के शर्मा जी प्लेग के समय शहर से अपने गाँव भाग जाने वाले समाजसेवक हैं। कहानी में उनका चित्रण करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं कि-"एक बार प्रयाग में प्लेग का प्रकोप हुआ। शहर के रईस लोग निकल भागे। बेचारे गरीब चूहों की भाँति पटापट मरने लगे। शर्माजी ने भी चलने की ठानी। लेकिन "सोसल सर्विस लीग" के वे मन्त्री ठहरे। ऐसे अवसर पर निकल भागने में बदनामी का भय था। बहाना ढूंढा।... इस शुभ कार्य में मैं तुम्हारा हाथ बटा सकता, पर आज ही देहातों में भी बीमारी फैलने का समाचार मिला है। अतएव मैं यहां का काम आपके सुयोग्य, सुदृढ हाथों में सौंपकर देहात में जाता हूँ कि यथासाध्य देहाती भाइयों की सेवा करूँ।"

प्रेमचंद ऐसे यशलोभी और कर्तव्यच्युत समाजसेवकों और चिकित्सकों को अपनी कहानियों में आईना दिखाते हैं। 'उपदेश' में शर्माजी के समक्ष बाबूलाल है तो 'मंत्र' में डॉक्टर चड्ढा के समक्ष बूढ़ा भगत। बूढ़ा, डॉक्टर के सामने गिड़गिड़ाता है कि वे उसकी एकमात्र संतान पन्ना को बचा लें किंतु डॉक्टर साहब को बस इतना याद था कि वे इस समय मरीज नहीं देखते, यह उनके गोल्फ खेलने का समय है। डॉक्टर साहब द्वारा बूढ़े के प्रति अपनाए गए रवैये को रेखांकित करते हुए प्रेमचंद आहत हृदय से लिखते हैं कि-"संसार में ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो अपने आमोद-प्रमोद के आगे किसी की जान की भी परवा नहीं करते, शायद इसका उसे अब भी विश्वास न आता था। सभ्य-संसार इतना निर्मम, इतना कठोर है, इसका ऐसा मर्मभेदी अनुभव अब तक न हुआ था। वह उन पुराने जमाने के जीवों में था, जो लगी हुई आग को बुझाने, मुर्दे को कंधा देने, किसी के छप्पर को उठाने और किसी कलह को शान्त करने के लिये सदैव तैयार रहते थे। जब तक बूढ़े को मोटर दिखाई दी, वह खड़ा टकटकी लगाये उस ओर ताकता रहा। शायद उसे अब भी डाक्टर साहब के लौट आने की आशा थी।" हमारे समय का मनुष्य भी कम कठोर हृदय नहीं है। भागमभाग में किसी के पास इतना भी वक्त नहीं कि दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को अस्पताल तक पहुँचा दे।

समय का पहिया ऐसा घूमा कि डॉक्टर साहब का सामना सीधे अपने अतीत के कर्म से हुआ। उनके बेटे कैलाशनाथ की सर्पदंश के कारण हुई मृत्यु से वही बूढ़ा भगत उबार लाया। प्रेमचंद आदर्शोन्मुख यथार्थवादी लेखक थे। वे यहाँ भी आदर्श रचना नहीं भूले। बूढ़े के कर्म ने डॉक्टर को अपनी भूल का एहसास करा दिया। उसने स्वयं को बदलने का फैसला करते हुए कहा-"एक बार यह एक मरीज़ को लेकर आया था। मुझे अब याद आता है कि मैं खेलने जा रहा था और मरीज़ को देखने से इनकार कर दिया था। आज उस दिन की बात याद करके मुझे जितनी ग्लानि हो रही है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। मैं उसे अब खोज निकालूँगा और उसके पैरों पर गिरकर अपना अपराध क्षमा कराऊँगा। वह

कुछ लेगा नहीं, यह जानता हूँ।...उसकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है, जो अबसे जीवन-पर्यन्त मेरे सामने रहेगा।" कर्तव्य से भागने की समस्या केवल एक व्यक्ति या एक वर्ग की नहीं है। कोरोनाकाल ने सभी चिकित्सकों पर जीवनरक्षण का अभूतपूर्व भार डाल दिया है। इस दायित्व को निभाते हुए कई चिकित्सकों की संक्रमण के कारण जान तक चली गई है। किंतु उनके त्याग में साथ देने के बजाय कई मकान-मालिकों ने कोरोना होने के भय से अपने किरायेदार चिकित्सकों को घर खाली करने का फरमान दे दिया है। कोरोना से दूसरों के प्राण बचाने में अपनी जान गँवाने वाले चिकित्सकों तक को संक्रमण के भय से श्मशान में शवदाह से कुछ लोगों ने आपत्ति की। १५ अप्रैल २०२० में 'द वायर' में प्रकाशित लेख 'चेन्नई:कोरोना वायरस से जान गंवाने वाले डॉक्टर का अंतिम संस्कार स्थानीय लोगों ने रोका' में छपी खबर के अनुसार-"पुलिस ने मंगलवार को बताया कि एक निजी अस्पताल में सोमवार को 56 वर्षीय एक डॉक्टर की मौत हो गई थी. डॉक्टर के शव को अम्बत्तूर क्षेत्र में श्मशान घाट ले जाया गया जहां स्थानीय लोगों ने इसका विरोध किया और कहा कि इससे उनके क्षेत्र में कोरोना वायरस का संक्रमण फैलने की आशंका है." जिस डॉक्टर ने इस भीषण समय में लोगों को इलाज किया उसे अंतिम संस्कार तक मयस्सर नहीं। भारत के कई शहरों में ऐसी घटनाएँ देखी जा रही हैं।प्राणों के भय से क्रूर हुए समाज में मानवता की रक्षा के लिए प्रेमचंद का आस्था और आदर्श से भरपूर साहित्य संजीवनी हो सकता है।

'प्रेमचंद और उनका युग' लिखकर रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद को १९७२ ई. के भारत के लिए अनिवार्य सिद्ध किया था। वे कसौटियाँ २०२० ई. में भी हमारे समाज को आईना दिखा सकती है। उनका यह कहना आज भी उतना ही सही है कि-"जिस पिछड़ेपन के विरुद्ध प्रेमचंद ने संघर्ष किया था, वह विशेष रूप से हिन्दी प्रदेश में सघन हो गया है। आर्थिक स्तर पर जनता की गरीबी अपनी जगह है, राजनीतिक स्तर पर देश के विघटन की समस्या और तीव्र हो गयी है। सांस्कृतिक स्तर पर द्विज और शूद्र का भेद, हिन्दू और मुसलमान का भेद, और बढ़ा है। पुराने भेदों में इजाफा हुआ है हिन्दू और सिख के भेद का। धार्मिक अंधविश्वासों को उभारने में, बड़े पैमाने पर हत्याकाण्ड रचाने में, जनता को तरह-तरह से आतंकित करने में 1992 और 93 के वर्षों ने पुराने सभी युगों को पीछे छोड़ दिया है। प्रेमचंद का साहित्य इस परिस्थिति को समझने में सहायता करता है।"

रोटी, कपड़ा और मकान प्रेमचंद के जीवन काल से लेकर आज तक करोड़ों लोगों की समस्या का कारण बना हुआ है। जीवन की इन मूलभूत जरूरतों पर प्रेमचंद की पैनी दृष्टि थी। १९१२ ई. में प्रकाशितउनकी कहानी 'राजहठ' में राजकुमार इंदर दुर्गापूजा में अपने पिता को राजनीतिक दल पर लाखों रुपये खर्च करने से रोकता है क्योंकि दूसरी ओर प्रजा भूख से बेहाल है। वह कहता है-"यह न्याय के सिद्धांतों के खिलाफ़ बात है कि हम तो उत्सव मनाएँ और हज़ारों आदमी उसकी बदौलत मातम करें। बीस हजार मजदूर एक महीने से मुफ़्त में काम कररहेहैं, क्या उनके घरों में खुशियाँ मनाई जा रही हैं?" रोटी ही नहीं पानी भी हमारे समय की एक भीषण समस्या है जो कि 'राजस्थान की रजत बूँदें' में उभरकर सामने आई है-"खंडेरों की ढाणी जैसे कई गांवों को आज एक नए बने ट्यूबवैल से पानी मिल रहा है। पानी 60 किलोमीटर दूर से पाइप लाइन के माध्यम से आताहै। ट्यूबवैल जहां खोदा गया है, वहां बिजली नहीं है।वह डीजल से चलता है।डीजल और भी कहीं दूर से टैंकर के जरिए आता है। कभी टैंकर के ड्राइवर छुट्टी पर चले जाते हैं, तो कभी ट्यूबवैल चलाने वाले।कभी डीजल ही उपलब्ध नहीं होता।उपलब्ध होने पर उसकी चोरी भी हो जाती है।कभी रास्ते में पाइप लाइन फट जाती हैं-इस तरह के अनेक कारणों से ऐसे गांवों में पानी पहुंचता ही नहीं है।" पानी की समस्या के विकराल स्वरूप को प्रेमचंद ने 'ठाकुर का कुआँ' में चित्रित किया जो छुआछूत के साथ मिलकर जानलेवा हो जाती है।

शिक्षा और रोजगार साथ-साथ चलते हैं। शिक्षा का रोजगार से या रोजगार का शिक्षा से क्या संबंध है इसपर प्रकाश डालते हुए प्रेमचंद लिखते हैं कि-"देश में आधे आदमी बेकार पड़े हुए हैं। सौ में नब्बे आदमियों को पेट भर भोजन नहीं मिलता। सौ में नब्बे आदमी पढ़ लिख नहीं सकते, इसलिए वो जो थोड़ा-बहुत कमाते भी हैं उन्हें निश्चिंत होकर खानहीं सकते। कहीं साहूकार उनके मुँह का कोर छीन लेता

**शिक्षा और रोजगार साथ-साथ चलते हैं। शिक्षा का रोजगार से या रोजगार का शिक्षा से क्या संबंध है इसपर प्रकाश डालते हुए प्रेमचंद लिखते हैं कि-"देश में आधे आदमी बेकार पड़े हुए हैं। सौ में नब्बे आदमियों को पेट भर भोजन नहीं मिलता। सौ में नब्बे आदमी पढ़ लिख नहीं सकते, इसलिए वो जो थोड़ा-बहुत कमाते भी हैं उन्हें निश्चिंत होकर खानहीं सकते। कहीं साहूकार उनके मुँह का कोर छीन लेता है कहीं पुलिस।"**

है कहीं पुलिस।" अशिक्षा के अंधेरे को दूर करने का दायित्व संभालने वाले स्कूलों की बदहाल स्थिति का प्रेमचंद ने जो चित्र खींचा है वह आज के बहुतेरे स्कूलों की भी हकीकत है। 1936 में प्रकाशित होली की छुट्टी के द्वारा प्रेमचंद शिक्षा-व्यवस्था का वास्तविक चेहरा समाज को दिखाते हैं हमारे देश के शिक्षकों के बड़े हिस्से की यही हालत है। पर्याप्त वेतन का अभाव, शिक्षकों पर अत्यधिक कार्य-भार को प्रेमचंद ने शिक्षकों के इस व्यवहार का मूल कारण माना. हमारे समय के इस कोरोना काल में सारी कक्षाएँ डिजिटल माध्यम से ली जा रही हैं किंतु यह अध्यापकों पर अत्यधिक कार्यभार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतिथि शिक्षकों के वेतन का आधा हिस्सा कम करके उन्हें वेतन दिया जा रहा है। उन्हें डिजिटल माध्यम से निर्धारित कक्षाएँ तो लेनी हैं लेकिन शिक्षकों के लिए कोई सुविधा नहीं दी जा रही है। यह प्रेमचंद के समय का सच नहीं है किंतु हमारे समय का सच जरूर है। इसके केंद्र में निहित है शिक्षा के प्रति राजसत्ता की उपेक्षा जिसका सिलसिला प्रेमचंद के दौर से आज तक बदस्तूर जारी है। जातिगत भेदभाव ने शिक्षा के क्षेत्र में भी अपने पैर फैलाए हैं। आज भी जाति शिक्षा पर उसी तरह से हावी है जैसे प्रेमचंद के समय में थी। चमार होने के कारण 'कर्मभूमि' में गूदड़ चौधरी के गाँव के बालक को इस कदर अपमानित किया जाता है कि वे पढ़ने की इच्छा होने पर भी पढ़ना छोड़ देते हैं या कहें कि वे मजबूर हो जाते हैं। उनकी इस मजबूरी को रेखांकित करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं- "कहाँ जाएं, हमें कौन पढ़ाए-मदरसे में कोई जाने तो देता नहीं। एक दिन दादा दोनों को लेकर गए थे। पंडितजी ने नाम लिख लिया पर हमें सबसे अलग बैठाते थे सब लड़के हमें 'चमार-चमार' कहकर चिढ़ाते थे। दादा ने नाम कटा लिया।" आज भी स्थितियाँ बहुत अधिक नहीं बदली हैं जिसका पता ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि दलित लेखकों की 'जूठन' जैसी आत्मकथाएँ देती हैं।

'बेटी पढ़ाओ बेटी बचाओ' जैसे अभियान हमारे समय में स्त्री संरक्षण के कवच के रूप में अपनाए जा रहे हैं। स्त्री-शिक्षा को अनिवार्य समझने वाले प्रेमचंद 'गबन' (१९२८) में मानो स्वयं वकील इंदुभूषण के रूप में रमानाथ से पूछते हैं कि-"आपके बोर्ड में लड़कियों की अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव कब पास होगा? और कई बोर्डों ने तो पास कर दिया। जब तक स्त्रियों की शिक्षा का काफी प्रचार न होगा, हमारा कभी उद्धार न होगा। आप तो यूरोप न गए होंगे? ओह! क्या आजादी है, क्या दौलत है, क्या जीवन है, क्या उत्साह है! बस मालूम होता है, यही स्वर्ग है और स्त्रियाँ भी सचमुच देवियां हैं। इतनी हंसमुख, इतनी स्वच्छंद, यह सब स्त्री-शिक्षा का प्रसाद है!" हमारा समय जैसे प्रेमचंद के स्त्री-शिक्षा संबंधी स्वप्न को साकार रूप में देखने का समय है। प्रेमचंद ने स्त्री-जीवन के कई पक्षों को उसकी समस्याओं सहित उजागर किया है। जैसे-'सेवासदन' में दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह, वेश्यावृत्ति, स्त्री-पराधीनता, 'निर्मला' में अनमेल विवाह, 'प्रतिज्ञा' में विधवा जीवन, 'कर्मभूमि' में आदर्श पत्नी, देशभक्त स्त्री तथा 'गोदान' में कर्मण्य स्त्री के स्वाभिमानी चरित्र के साथ दलित स्त्री के जीवन की विडंबनाओं का चित्र खींचा है। सेवासदन की सुमन के पिता कृष्णचंद्र दहेज-प्रथा के खिलाफ थे किंतु बेटी के विवाह की चिंता से घिरे दरोगा साहब रिश्वत लेने के लिए राजी हो जाते हैं। रिश्वत लेना उनके लिए अपनी आत्मा बेचने के समान था। सांसारिकता को निभाने के लिए वे विवश थे-"मैं अपनी आत्मा बेच रहा हूँ,कुछ लूट नही रहा हूँ।" पिता को पाँच साल की जेल और बेटी का विवाह अधेड़ वय के व्यक्ति से हुआ। गजाधर के संदेह ने सुमन को भोली के पास पहुँचा दिया जहाँ उसने वेश्या का जीवन अपना लिया। विधवा जीवन की विडंबनाओं को प्रेमचंद ने 'गबन' में जगह दी है। उपन्यास में वकील शांति भूषण की मृत्योपरांत उसका भतीजा मणि भूषण उसकी सारी संपत्ति पर अपना कब्जा कर लेता है और रतन को अपने ही घर से बेघर होने पर मजबूर किया जाता है।

प्रेमचंद के समय की ही तरह हमारे समय में भी अनेक विधवा स्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। ऐसी स्त्रियों की सुरक्षा के लिए उनके संपत्ति पर अधिकार संबंधी कानून बनाए गए हैं। सुखदा के रूप में प्रेमचंद ने स्त्री को चहारदीवारी से बाहर लाने का प्रयास किया, उसे पुरुषों के बराबर काम करने का साहस दिया। 'गोदान' की धनिया का संवाद एक प्रबल तथा स्वाभिमानी स्त्री होने का संकेत देता है वह दातादीन से कहती है-"भीख मांगो तुम, जो भिखमंगों की जात हो। हम तो मजूर ठहरे, जहां काम करेंगे, वही चार पैसे पाएंगे।" प्रेमचंद अपने समय से आगे की सोच रहे थे। हमारा समय उन बातों का अमल है। आज स्त्री-पुरुष साथ-साथ एक ही दफ्तर में काम करते हैं, सह-शिक्षा पाते हैं। बावजूद इसके अभी भी कई दफ्तरों में स्त्रियों को पुरुषों के मुकाबले कम वेतन दिया जाता है। देर रात तक काम करना उनकी असुरक्षा का कारण बन गया है। घरेलू हिंसा, अपहरण, बलात्कार तथा हत्या जैसी घटनाएँ बढ़ रही हैं। 'निर्भया कांड' इसका जीवंत उदाहरण है। यह संपूर्ण भारत तथा उसकी व्यवस्था को हिला देने वाली घटना थी जिसमें एक स्त्री की निर्मम हत्या की गई। दिल्ली में हुई इस घटना के बाद स्त्रियों के प्रति बढ़ते अपराध को रोकने के लिए "मिनिस्ट्री ऑफ आईटी ने महिला सुरक्षा से कई गैजट बनाने की शुरूआत की जो जल्द ही बाजार में आएंगे।महिला बाल विकास मंत्रालय ने महिला सुरक्षा के लिए 24 घंटे हेल्प लाइन नंबर की शुरूआत की। सरकार ने महिला बैंक की शुरूआत की।" इनके बावजूद स्त्रियों की असुरक्षा का बना रहना प्रेमचंद के नायिकाओं की जरूरत रेखांकित करता है। यूँ तो हम आजाद भारत के वासी हैं जो संवैधानिक रूप से धर्मनिरपेक्ष है किंतु प्रेमचंद ने धार्मिक असहिष्णुता के कारण समाज में बनी जिस खाई को पाटने की कोशिश की है वह आज भी उतनी ही गहरी है। कभी बीप तो कभी मौब लिंचिंग जैसे मामलों ने इस खाई को और अधिक गहरा बना दिया है।

इन भीड़वाले शहरों में यदि कोई रहने के लिए मकान ढूँढ़ने निकले तो पहला प्रश्न उसके सामने यही दागा जाता है कि वह मुसलमान तो नहीं है? यदि है तो उसके लिए कोई मकान खाली नहीं मिलेगा। एक सच यह भी है कि यह काम शासनतंत्र का है। अंग्रेजों के जाने के बाद 'फूट डालो शासन करो' की उनकी नीति यहाँ अपना ली गई। रामविलास शर्मा का मत है कि-"प्रेमचंद का समाज हिन्दुत्व और इस्लाम द्वारा विभाजित नहीं है।" किंतु हमारा समाज तो हिंदू और मुसलमान का भेद करता नहीं थकता। मॉब लिंचिंग जैसी घटना का इतिहास बहुत पुराना है अगस्त 1947 को जब देश आजाद हुआ और भारत-पाकिस्तान दो अलग-अलग मुल्क बने, तब पहली बार मॉब लिंचिंग कहलाने वाली हिंसा का जन्म हुआ। वह वक्त था जब कभी एक समुदाय की भीड़ दूसरे समुदाय के लोगों को मारती। तो कभी, भीड़ लोगों की जान लेती। इसके बाद 1984 के सिख दंगे, 2002 के गुजरात दंगे और हाल ही में दिल्ली में भड़की हिंसा।" प्रेमचंद कर्मभूमि, मंदिर और मस्जित आदि रचनाओं में इस हिंसा का चित्रण करते हैं और उसके खिलाफ खड़े होते दिखाई पड़ते हैं।

प्रेमचंद ने सत्ता का विभाजनकारी चरित्र पहचाना था और अपनी लेखनी द्वारा जनता को उससे निरंतर सचेत किया था। वे लिखते हैं कि-"राजनीति के पण्डितों ने कौम को जिस दुर्दशा में डाल दिया है, वह आप और हम सभी जानते हैं। अभी तक साहित्य के सेवकों ने भी किसी-न-किसी रूप मे राजनीति के पण्डितों को अगुआ माना है, और उनके पीछे-पीछे चले हैं। मगर अब साहित्यकारों कोअपने विचार से काम लेना पड़ेगा। सत्य, शिवं, सुन्दर के उसूल को यहाँ भी बरतना पड़ेगा। सियासियात ने सम्प्रदायो को दो कैम्पो में खड़ा कर दिया है। राजनीति की हस्ती ही इस पर कायम है कि दोनों आपस मे लड़ते रहे। उनमें मेल होना उसकी मृत्यु है। इसलिए वह तरह-तरह के रूप बदलकर और जनता के हित का स्वाँग भरकर अब तक अपना व्यवसाय चलाती रही है।" प्रेमचंद के उपन्यासों में जो राजनीतिक चिंतन पात्रों के माध्यम से सामने आया है वह आज की राजनीति पर अधिक ठीक बैठता है। 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर राजनीति के स्तंभों पर कुठाराघात करते हुए राजनीति के अंत को सर्वश्रेष्ठ राजनीति बताता है। प्रेमचंद सत्ता का चरित्र उजागर करते हुए लिखते हैं कि-"राजनीति भी संसार की उन महत्त्व-पूर्ण वस्तुओं में है, जो विश्लेषण और विवेचना की आँच नहीं सह सकती। उसका विवेचन उसके लिए घातक है, उस पर अज्ञान का परदा रहना ही अच्छा है। प्रभु सेवक ने परदा उठा दिया-सेनाओं के प्रभाव आँखों से अदृश्य हो गये, न्यायालय के विशाल भवन जमीन पर गिर पड़े, प्रभुत्व और ऐश्वर्य के चिह्न मिटने लगे, सामने मोटे और उज्ज्वल अक्षरों में लिखा हुआ था-"सर्वोत्तम राजनीति राजनीति का अंत है।" लेकिन ज्यों ही उनके मुख से ये शब्द निकले- "हमारा देश राजनीति-शून्य है। परवशता और आज्ञाकारिता में सीमाओं का अंतर है।" त्यों ही सामने से पिस्तौल छूटने की आवाज आई, और गोली प्रभु सेवक के कान के पास से निकलकर पीछे की ओर दीवार में लगी।" पात्रों की बातों और घटनाक्रम दोनों के द्वारा प्रभावी ढंग से सामने आने वाला सत्ता का क्रूर चरित्र वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था का रूप दिखानेवाला है।

साहित्य और पत्रकारिता को सत्ता और पूँजीपति दोनों से अत्यधिक खतरा है। प्रेमचंद ने इस खतरे को पहचाना था। रामविलास शर्मा लिखते हैं कि- "पग-पग पर उन्हें अनुभव हुआ कि इस समाज में लेखक स्वाधीन नहीं है, उसे कलम बेचकर अनैतिक रचनाओं से पूँजीपतियों के मुनाफे का साधन बनना पड़ता है।" गोदान में समाचार पत्र बिजली का संपादक ओंकारनाथ को राय साहब खरीदने में सफल होते हैं। हमारे समय के सैंकड़ों समाचार-पत्रों तथा टीवी चैनलों पर भी कुछ मीडिया हाउसों ने कब्जा कर लिया है। ये पूंजी और सत्ता के गठजोड़ से पनपते हैं तथा जनता में भ्रामक यथार्थ का निर्माण करने में संलग्न रहते हैं। प्रेमचंद इस सत्ता और पूंजी के खिलाफ साहित्यकारों को आगे आने का तथा सच्चाई की मशाल दिखाने का आह्वान करते हैं। प्रगतिशील संघ के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि-"साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरञ्जन का सामान जुटाना नही है-उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति भार राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।" साहित्यकार का यह उत्तरदायित्व हमारे समय में भी उम्मीद की किरण बन सकता है।

प्रेमचंद का किसान जीवन का बारीक निरीक्षण उनके समय के किसानों को तो हमारे सामने जीवंत करता ही है वह आज के किसानों की समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान तलाशने का भी उपयोगी साधन है। 'कर्मभूमि' में देहातों की आर्थिक दशा की जाँच-पड़ताल करने निकले सलीम, अमरकान्त, डॉ. शान्तिकुमार के पारस्परिक संवाद के जरिए प्रेमचंद ने किसानों की दुर्दशा से परिचय कराया है-

"अमर ने कहा-मैंने कभी अनुमान न किया था कि हमारे कृषकों की दशा इतनी निराशाजनक है।

सलीम बोला-तालाब के किनारे वह जो चार-पाँच घर मल्लाहों के थे, उनमें तो लोहे के दो एक बरतनों के सिवा कुछ था ही नहीं। मैं समझता था देहातियों के पास अनाज को बखारें भरी होंगी; लेकिन यहाँ तो किसी घर में अनाज के मटके तक न थे।

शान्तिकुमार बोले- सभी किसान इतने गरीब नहीं होते। बड़े किसान के घर में बखार भी होती है; लेकिन ऐसे किसान गांव में दो-चार से ज्यादा नहीं होते।

अमरकान्त ने विरोध किया-मुझे तो इन गांवों में एक भी ऐसा किसान न मिला। और महाजन और अमले इन्हीं ग़रीबों को चूसते हैं? मैं कहता हूँ, उन लोगों को इन बेचारों पर दया भी नहीं आती!

शान्तिकुमार ने मुस्कराकर कहा-दया और धर्म की बहुत दिनों परीक्षा हुई और यह दोनों हलके पड़े! अब तो न्याय परीक्षा का युग है।"

कर्मभूमि के लेखन के नौ दशकों बाद आजाद भारत में भी किसान अपनी बदहाली से आत्महत्या करने की हद तक परेशान हैं। कृषि एवं कल्याण मंत्रालय द्वारा 'पीएम-किसान सम्मान निधि' जैसी शुरु की गई योजनाएँ भी उनकी दशा बदलने में असमर्थ सिद्ध हुई हैं। आज भी किसान अपनी फसल को औने-पौने दाम पर बेचने के लिए विवश है। १८ जुलाई २०२० में 'अमर उजाला' में छपी एक खबर के अनुसार-"अधिकारियों ने बताया कि जिन किसानों को अभी तक इस स्कीम का लाभ नहीं मिला है या तो उनके बैंक खाते या आधार कार्ड में कुछ गड़बड़ी है या फिर उनका आधार कार्ड लिंक नहीं है।" ये खबरें सरकारी योजनाओं की वास्तविकता दिखाते हैं। किसानों की आत्महत्याएं १९९० ई. से २०२० ई. तक निरंतर जारी है। २०१५ में खरगोन ज़िले के मोहनपुरा गांव के लाल सिंह भिलाला ने ट्यूबवेल में पैसे कम पड़ जाने पर अपने बेटों को गिर्वी रख दिया। इसके कारणों पर बात करते हुए उसने बताया कि-"मिर्च की फसल के पहले 60 हज़ार का कर्ज़ लिया था. पहले मिर्च बाद में गेंहू की फसल भी बर्बाद हो गई." बढ़ते कर्ज से परेशान किसान लगातार यह मांग कर रहे हैं कि उनकी फसलों का उचित मूल्य दिया जाए,उनके कर्ज माफ किए जाएं,उनकी फसलों का बीमा किया जाए साथ ही बीज, सिंचाईजैसी सुविधाएं उन्हें मुहैया कराई जाएँ। लगता है कि गोदान का होरी २१ वीं सदी में भी किसान से मजदूर होकर मरने को अभिशप्त है। यह अकारण नहीं है कि गोदान आज के किसानों के जीवन की भी महागाथा बन गई है।

प्रेमचंद ने 'गोदान', 'पूस की रात' आदि रचनाओं में दिखाया था कि मुश्किल होते किसान जीवन ने किसानों को मजदूर बनने को मजबूर कर दिया है। हमारे समय में गाँवों से किसानों के मजदूर बनकर शहरों की ओर पलायन करने की प्रक्रिया निरंतर जारी है। ऐसी खेती भी किस काम की जिससे रात-दिन मेहनत करने पर भी तन को जाड़े से बचाने के लिए कंबल तक नसीब न हो सके। महाजनों के ताने सुनो वो अलग। 'गोदान' का गोबर भी किसानी छोड़कर मजदूरी करने लगता है। अब जमींदार और महाजन नहीं हैं। उनका स्थान बड़ी कंपनियों और बैंकों ने ले लिया है। हमारे समय का किसान उसी दुर्दशा में है क्योंकि कानून का रूप और शोषकों का चरित्र वैसा ही है जैसा कि १९३६ के गोदान में झींगुरी सिंह के मुँह से प्रेमचंद ने कहलवाया था। उस महाजन ने अपने व्यवसाय के प्रति निश्चिंत होते हुए कहा था कि- "कानून तो है कि महाजन किसी असामी के साथ कड़ाई न करे, कोई जमींदार किसी काश्तकार के साथ सख्ती न करे; मगर होता क्या है। रोज़ ही देखते हो। जमींदार मुसक बँधवा के पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात करता है।"

हमारे समय में विद्यमान कंपनियों में मैनेजर, सुपरवाइजर किसी महाजन या जमींदार से कम नहीं है। कड़ाई से काम लेना और कम मेहनताना देना यही उनके स्वभाव का एक अंग है। इसलिए किसानों की ही तरह मजदूरों की वास्तविक स्थिति भी प्रेमचंद के युग की ही तरह नहीं बदली है। धोती-कुर्ता की जगह आज पैंट-शर्ट ने ले ली है, हाथ में औजारों की जगह कंप्यूटर, कान में हैडफोन आ गया है किंतु उनकी जीवन की दसा, घर, परिवार की स्थिति आदि कुछ नहीं बदला है। यूँ तो ये आधुनिक लगने वाले मजदूर हैं किंतु वास्तव में ये मजदूर ही हैं।

कोरोना काल में मजदूर सबसे प्रभावित तबका है। उसे रोटी की चिंता ने पुनः विस्थापित कर दिया है। यातायात साधनों के अभाव में सैकड़ों मीलों की दूरी पैदल करने पर वह विवश है। सड़क से आवागमन पर रोक के बाद रेल की पटरियों पर और नदी में मार्ग बनाता हुआ यह वर्ग अपने घरों में लौट जाने को विवश हो गया। भारत में लगे लॉकडाउन के कारण देश के विभिन्न राज्यों में विस्थापन की कई घटनाएँ सुनने को मिलीं। मजदूर प्रेमचंद की ताकत थे जिसके बल पर सत्ता तक पलटी जा सकती है। मजदूरों से प्रेमचंद का किस हद तक जुड़ाव था यह शिवरानी देवी ने 'प्रेमचंद घर में' में स्पष्ट किया है इसे रेखांकित करते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं कि-"उन्होंने शिवरानी देवी जी से कहा था कि हर जगह शहज़ोर कमज़ोर को चूसते हैं, "हाँ, रूस है, जहाँ पर कि बड़ों को मार-मारकर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों का आनंद है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।" जब पत्नी ने पूछा कि क्रांति हुई तो वे किसका साथ देंगे, तब प्रेमचंद ने उत्तर दिया, "मज़दूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सबसे कह दूँगा कि मैं तो मज़दूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर हैं।" इसी चेतना की कलम से उन्होंने 'पूस की रात' से लेकर 'कफ़न' तक की यात्रा तय की थी। जिस हल्कू के पास रात-दिन मेहनत करने पर भी पूस की कड़ाके की ठंड से बचने के लिए एक कंबल तक न था उसके जैसे ही मजदूर ने कफ़न देने के सामाजिक मूल्य तक की उपेक्षा कर दी।

सामाजिक भेदभाव की समस्या भी प्रेमचंद को हमारे समय से जोड़ती है। हमारा समय यूँ तो आधुनिक कहलाता है किंतु अस्पृश्यता या भेदभाव के बदले रूपों से अब तक ग्रस्त है। आज भी कहीं-न-कहीं 'ठाकुर का कुआँ' अपने वजूद में हैं। आज भी कहीं-न-कहीं गंगी यह सोचने पर मजबूर है कि- "हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँच हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं! यहाँ तो जितने हैं, एक-से-एक छटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें। अभी इसी ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गढ़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद को मारकर खा गया। इन्हीं पण्डितजी के घर में तो बारहों मास जूआ होता है। यही बाबूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी

मरती है। किस बात में हैं हमसे ऊँचे। हाँ, मुंह से हमसे ऊँचे हैं, हम गली-गली चिल्लाते नहीं कि हम ऊँचे हैं, हम ऊँचे! कभी गांव में आ जाती हूँ; तो रस-भरी आँखों से देखने लगते हैं। जैसे सबकी छाती पर साँप लोटने लगता है, परन्तु घमण्ड यह कि हम ऊँचे हैं।" अनुभव किया जाए तो आज भी कहीं-न-कहीं कोई जोखू मैला-गंदा, बदबूदार पानी पीने को विवश है क्योंकि उसे अपने समय और समाज की पूरी पहचान है। हमारा समय मन नहीं अपितु तन से आधुनिक है, बोली से आधुनिक है। मन तो आज भी वहीं रमा है जहाँ कोई जाति के कारण तो कोई धन के कारण, कोई रूप के कारण तो कोई प्रदर्शन के बल पर ऊंचा बना बैठा है।

भ्रष्टाचार हमारे और प्रेमचंद के समय की बड़ी समस्या है जो समय बदलने के साथ कम नहीं हुआ बल्कि बढ़ता ही गया। भारत में विमुद्रीकरण होने पर करोड़ों रुपये नदियों में बहाए गए, कूड़े के ढेर में फेंके गए। क्योंकि उस दौरान पुरानी मुद्रा का स्वरूप पूर्णतः बदल दिया गया था तथा पुरानी मुद्रा का उपयोग बंद कर दिया गया था। किंतु विमुद्रीकरण लागू होने के कुछ ही समय के बाद बाजारों से २००० के नोट सिरे से गायब हो गए। यह कहना मुश्किल नहीं है कि भ्रष्टाचार कम होने के बजाय और अधिक बढ़ा है। ऐसे भ्रष्ट लोगों का असल चेहरा प्रेमचंद की 'कफ़न' कहानी में भी देखा जा सकता है। घीसू-माधव समाज का वह तबका है जो इस समाज में रह रहे शरीफों की रग-रग से परिचित है। इसीलिए वे दोनों बुधिया को बैकुंठ जाने का हकदार समझते हैं न कि इस समाज के भ्रष्ट लोगों को। घीसू माधव से कहता है कि-"वह न बैकुण्ठ जायगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं, और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं?"

प्रेमचंद की हिंदी भाषा और साहित्य को वैश्विक उच्चता के स्तर पर ले जाने की आकांक्षा भी उन्हें हमारे समय के लिए प्रासंगिक बनाती है। एक प्रेमचंद का दौर था जब हिंदी आंदोलन की भाषा थी दूसरा हमारा समय है जिसके केंद्र में अंग्रेजी रच-बस गई है। आज बहुत से लोग न तो शुद्ध हिंदी बोल पाते हैं न पूर्णतः अंग्रेजी। ऐसे में हम हिंग्लिश भाषी बनकर रह गए हैं। प्रेमचंद को लगता था कि-"जब हिन्दुस्तानी कौमी जबान है, क्योकि किसी न किसी रूप मे यह पन्द्रह-सोलह करोड़ आदमियों की भाषा है, तो यह भी जरूरी है कि हिन्दुस्तानी जबान में ही हमें भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ पढ़ने को मिले।" किंतु आज कुछ भी पढ़ने के लिए अंग्रेजी पहले छानी जाती है। भाषा संबंधी समस्या ने आज के युवाओं को अवसाद के गर्त में पटक दिया है जहाँ उनका आत्मविश्वास छिन्न-भिन्न हो गया है। भाषा संबंधी संघर्ष प्रेमचंद के साथ हमारे समय की भी जरूरत है। हमारे समय के लोग अनेक स्तरों पर इस कार्य में संलग्न है। विभिन्न मोबाइल ऐप में हिंदी भाषा की सुविधा दी जा रही है। विज्ञापन अंग्रेजी के अतिरिक्त हिंदी में भी छापे जा रहे हैं। यहाँ तक कि ऑन-लाइन कोश भी उपलब्ध है। खरीदारी संबंधी वेबसाइट अमेज़न, बिग-बास्केट, पेटीएम, आदि पर अपनी ही भाषा में कार्य करने का विकल्प उपलब्ध कराया जा रहा है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद अपने समय से गहराई से जुड़े साहित्यकार थे। इस गहरे जुड़ाव ने उन्हें हमारे समय के लिए प्रासंगिक बना दिया है। चाहे किसानों की समस्या हो या मजदूरों की, चाहे स्त्रियों के साथ बरता जाने वाला भेदभाव हो चाहे दलितों के साथ, चाहे साम्राज्यवाद के विरुद्ध आंदोलन हो या पूँजीवाद के विरुद्ध, चाहे अभिव्यक्ति की आजादी का प्रश्न हो या स्वतंत्रता का प्रेमचंद साहित्य अपने दौर के साहित्य निर्माता होने के साथ ही हमारे दौर के भी साहित्य निर्माता हैं। उनकी कालजीविता उन्हें कालजयी बना गई है।

**सन्दर्भ ग्रंथ सूची**


1. *एक 'बहादुर' लड़की ने बदला सिस्टम-नरेन्द्र नाथ, नवभारत टाइम्स.* (२०१३ , दिसंबर १६). Retrieved १२ ११, २०२०
2. *चेन्नई: कोरोना वायरस से जान गंवाने वाले डॉक्टर का अंतिम संस्कार स्थानीय लोगों ने रोका-द वायर.* (2020, 4 14). Retrieved ११ २५, २०२०
3. S, M. (2008, october 15). *Flu experts warn of need for pandemic plans*. Retrieved from BMJ. 321 (7265): 852. doi:10.1136/bmj.321.7265.852. PMC 1118673. PMID 11021855.
4. उजाला, अ. (२०२०, मई १७). *'लॉकडाउन:जान जोखिम में डाल यमुना पार कर रहे मजदूर, पुलिस ने यूपी की सीमा में घुसने से रोका'.*
5. गोयनका, क. क. (१९८१).*प्रेमचंद विश्वकोश.*प्रभात प्रकाशन, दिल्ली.
6. चतुर्वेदी, र. (२०१५, ४ २३).*फसल बर्बाद हुई तो बच्चे गिरवी रख दिए', बीबीसी हिंदी.*
7. प्रेमचंद. (१९२९).*पाँच फूल.*बनारस: सरस्वती-प्रेस.
8. प्रेमचंद. (१९३२).*कर्मभूमि.*इलाहाबाद: हंस प्रकाशन.
9. प्रेमचंद. (१९३८).*सप्तसरोज.*काशी: हिंदी पुस्तक एजेंसी.
10. प्रेमचंद. (१९५४).*साहित्य का उद्देश्य.*इलाहाबाद: हंस प्रकाशन.
11. प्रेमचंद. (१९५४).*साहित्य का उद्देश्य.*इलाहाबाद: हंस प्रकाशन.
12. प्रेमचंद. (१९८०). *प्रेमचंद रचनावली.*नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.
13. प्रेमचंद. (२००८).*गोदान.*वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
14. प्रेमचंद. (२००८).*प्रेमचंद के विचार १, २, ३,* .प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली.
15. प्रेमचंद. (२००८).*प्रेमाश्रम.*सुमित्राप्रकाशन इलाहाबाद.
16. प्रेमचंद. (२००९).*गबन.*प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली.
17. प्रेमचन्द. (१९४७).*मानसरोवर, भाग:१.*बनारस: सरस्वती प्रेस.
18. मिश्र, अ. (१९९५). *राजस्थान की रजत बूंदें.*नई दिल्ली: गांधी शांति प्रतिष्ठान.
19. शर्मा, र. (२००८).*प्रेमचंद और उनका युग.*नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

# रामनरेश त्रिपाठी की सामाजिक प्रतिबद्धता

**पुरन्दरदास**
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग
पूर्णियाँ विश्वविद्यालय, पूर्णियाँ, बिहार

**सारांश**
*साहित्य समाज-दर्शन और सामाजिक प्रेरणा का शास्त्र है । समसामयिक समाज-दृष्टि को परिभाषित और व्याख्यायित करने तथा पुरातन मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में साहित्य की विशिष्ट भूमिका है । साहित्य मनुष्य के विवेक, बुद्धि, अस्तित्व और विकास का आधार है । किसी भी साहित्यिक रचना में सामाजिक विवेक का जागरण, सार्वजनिक एवं सार्वभौमिक हित-चिन्तन तथा अमानवीय शक्तियों से संघर्ष का उद्‌घाटन अपेक्षित होता है । कोई भी समाज जब किन्हीं खास कारणों से अपनी बद्धमूल धारणाओं में परिवर्तन करता है और किसी नयी वैचारिक चिन्तनधारा को ग्रहण करता है वह परिवर्तन उस समाज का नवजागरण कहा जाता है । कविवर रामनरेश त्रिपाठी का काव्य मानवतावाद की नवीन वैचारिकता, नवजागरण से संपृक्त है ।*

**बीज शब्द**
नैतिकता, आदर्श, जीवनमूल्य, मानवतावाद, लोककल्याण, सामाजिकता

हिन्दी नवजागरण काव्य राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, समाज-सुधार, आदर्शवाद, जीवनमूल्य और नैतिकता के भावों से ओतप्रोत है । राष्ट्र की गंभीर व दयनीय स्थिति का चित्रण करने के साथ ही नवजागरणकालीन कवियों ने देशवासियों को आत्मबलिदान के लिए अभिप्रेरित करते हुए स्वाधीनता का मार्ग प्रशस्त किया । तत्युगीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों ने रचनाकारों को जागरण-सन्देश के लिए प्रेरित किया । मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद 'सनेही', लोचनप्रसाद पाण्डेय, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नाथूराम शर्मा 'शंकर', राय देवीप्रसाद पूर्ण, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी आदि रचनाकारों ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से अभिप्रेरित होकर भारतीय नवजागरण को ही अपने कवि-कर्म का मूल लक्ष्य स्वीकार किया और हिन्दी काव्य-जगत् को अनेक रूपों में प्रभावित किया ।

हिन्दी नवजागरण काव्य के प्रस्थान बिन्दु पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने जीवन की विविध अनुभूतियों को बड़े ही सरल, सहज व संवेदनशील रूप में अपने काव्य में प्रस्तुत किया है । उन्होंने समसामयिक जीवन में व्याप्त घोर सामाजिक-आर्थिक विषमताओं, असमानताओं और निरर्थकता को काव्य-संवेदना के स्तर पर अनुभूति के माध्यम से प्रकट किया है । त्रिपाठीजी ने काव्य में बिम्बों का सार्थक प्रयोग किया है । सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय अनुभूति को वे बिम्बों के माध्यम से कौशलपूर्वक प्रस्तुत करते हैं । आमजन की अनुभवगत जटिलता के विश्लेषण और बखान को वे अपने कवि-कर्म का प्रमुख प्रयोजन अंगीकार करते हैं ।

रामनरेश त्रिपाठी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व साहित्य-सर्जना और सहज रचनाधर्मिता का प्रतिबिम्ब है । अपनी कृतियों में वे मनुष्य की दुनिया के माध्यम से प्रासंगिक और रचनात्मक रूप में उपस्थित होते हैं । उनकी रचनात्मक संवेदना में नवजागरण काव्य की मूल प्रवृत्तियाँ इतनी सहजता से समाहित हैं कि उन्हें नवजागरण काव्य का 'सहज नागरिक' कहा जा सकता है । खड़ी बोली की ओर उनका वास्तविक रुझान 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम एवं प्रभावस्वरूप हुआ । उनके चार काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए – 'मिलन' (1917), 'पथिक' (1920), 'मानसी' (1927) और 'स्वप्न' (1929) । 'मानसी' राष्ट्रभक्ति, प्रकृति-चित्रण और नीति-निरूपण से सम्बन्धित उनकी कविताओं का संकलन है जबकि 'मिलन', 'पथिक' तथा 'स्वप्न' उनके काल्पनिक कथाश्रित प्रेमाख्यानक खण्डकाव्य हैं जिनमें व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ को त्यागकर राष्ट्र और लोक के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने की प्रेरणा दी गई है ।

**व्यक्तिगत जीवन की पद्धति जब समष्टि की संवेदना के साथ समाहित हो जाती है तब अनुभव की सामाजिक परम्परा जन्म लेने लगती है। व्यक्तिगत संवेदना का रूपान्तरण सामाजिक संवेदना के साथ एक ओर तो संघर्ष की प्रक्रिया से जूझता है और दूसरी ओर उसकी दृष्टि को भी विकसित करता है किन्तु यदि अनुभव की संवेदना आदर्श एवं नैतिक मूल्यों की पहचान न बन सके तो एक ओर जहाँ उसकी संवेदना जड़ होने की प्रक्रिया में आ जाती है वहीं दूसरी ओर व्यक्तिवादिता और आत्मनिसन की जड़ें इतनी गहरी हो जाती हैं कि सम्पूर्ण मानसिकता ही संज्ञाशून्य और विद्रूप होने लगती है ।**

मनरेश त्रिपाठी की रचनाओं में अवसरानुकूल प्रकृति के मनोहारी चित्रण मिलते हैं । त्रिपाठीजी ने हिन्दी, उर्दू, बांग्ला एवं संस्कृत की कविताओं का संकलन और सम्पादन 'कविता-कौमुदी' के आठ भागों में किया है । लोक-गीतों का संग्रह भी उन्होंने बड़े मनोयोग से किया है । घाघ-भड्डरी की लोक-प्रसिद्ध कहावतों पर उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थ साहित्य-जगत् की अनमोल धरोहर है ।

रामनरेश त्रिपाठी की कविता में नवजागरणकालीन काव्य की सम्पूर्ण विशेषताएँ एक साथ उपस्थित होती हैं । नवजागरणकाल में राष्ट्रीयता, समाज-सुधार, स्वातन्त्र्य-चेतना, मानवतावाद, सामाजिक समरसता एवं गाँधीवाद का बोलबाला था । त्रिपाठीजी ने अपनी रचनाओं में उक्त समस्त मूल्यों का पर्याप्त समावेश करते हुए युगबोध एवं सामयिकता का परिचय दिया है । त्रिपाठीजी की आकांक्षा है कि प्रत्येक मानव अपनी पूरी शक्ति से उठ खड़ा हो, उसे अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों की पूरी समझ हो और वह अत्याचारों का पुरजोर विरोध कर सके । रूढ़ीवादी मान्यताओं को नष्ट करने को दृढ़ संकल्पित उनकी रचनाओं में सामाजिक व्यवस्था को सँवारने के प्रति विशेष आग्रह दिखाई देता है ।

राजनैतिक चेतना तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप विकसित राष्ट्रीयता की भावना हिन्दी नवजागरण काव्य का केन्द्रीय विषय रहा है । रामनरेश त्रिपाठी की कविता का प्रधान स्वर राष्ट्रीयता ही है । कविवर त्रिपाठी अपनी रचनाओं में देशभक्ति का प्रणयन करते हैं । वे क्रान्ति और आत्मोत्सर्ग का सन्देश देते हैं एवं परतन्त्रता के बन्धन तोड़ डालने हेतु प्रेरित करते हैं –

*सच्चा प्रेम वही है जिसकी, तृप्ति आत्म-बल पर हो निर्भर ।*
*त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है, करो प्रेम पर प्राण निछावर ॥*
*देश-प्रेम वह पुण्य-क्षेत्र है, अमल असीम त्याग से विलसित ।*
*आत्मा के विकास से जिसमें, मनुष्यता होती है विकसित ॥*

रामनरेश त्रिपाठी जिस सामाजिक परम्परा के रचनाकार हैं, उसका आधार सांस्कृतिक और राजनैतिक मूल्य हैं । ये मूल्य भारतीय नवजागरण से उत्पन्न हुए हैं । हिन्दी नवजागरण काव्य को सुधारवादी काव्य भी कहा जाता है । रामनरेश त्रिपाठी सामाजिक समस्याओं तथा धार्मिक जड़ताओं को अपनी कविता का विषय बनाते हैं । जिस समय और समाज ने उनकी रचनात्मक दृष्टि का निर्माण किया है और उसे सामाजिक प्रतिबद्धता से जोड़ा है, वह समय और समाज भारत में सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन की चरम अवस्था है । रामनरेश त्रिपाठी सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सुधारों को राजनैतिक चेतना से जोड़कर ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध एक सामाजिक आन्दोलन का सूत्रपात करते हैं । उनकी कविताओं में समसामयिक समस्याओं के प्रति गहन चिन्ता भाव दिखाई देता है –

*तुम मनुष्य हो, अमित बुद्धि-बल-विलसित जन्म तुम्हारा ।*
*क्या उद्देश्य रहित है जग में, तुमने कभी विचारा ?*
*बुरा न मानो, एक बार सोचो तुम अपने मन में ।*
*क्या कर्त्तव्य समाप्त कर लिए, तुमने निज जीवन में ॥*

रामनरेश त्रिपाठी काव्य में आदर्श एवं नैतिकता के प्रबल पक्षधर हैं । आदर्शवाद एवं नैतिकता का समर्थन करते हुए वे अपने रचनात्मक तेवर के साथ उपस्थित होते हैं । अभिव्यक्ति के केन्द्रीयकरण पर बल देकर वे उसे असीम शक्तिशाली बना देते हैं । उनकी कविताएँ उच्च मानवीय आदर्शों और सामाजिक चेतना के यथार्थबोध का लक्ष्य लेकर चलती हैं । उनका रचनात्मक दृष्टिकोण निरन्तर प्रवाहमान है । उनकी कविताओं का केन्द्र-बिन्दु मानव-हित है । अपने सारे अनुभव अपनी पूरी गहनता और संवेदना के साथ दूसरों तक पहुँच जाएँ, यही उनके कवि-कर्म का परम लक्ष्य है –

*पुण्य चरित सज्जन से विषयी कल्मष-मध्य-निवासी*
*न्यायी से वंचक, दाता से कृपण विशेष विलासी ।*
*जहाँ श्रमी से क्रयी-विक्रयी, वेश्या सुखी सती से*
*निर्जन वन है परम सुखद उस न्याय-रहित जगती से ॥*

व्यक्तिगत जीवन की पद्धति जब समष्टि की संवेदना के साथ हो जाती है तब अनुभव की सामाजिक परम्परा जन्म लेने लगती है। व्यक्तिगत संवेदना का रूपान्तरण सामाजिक

संवेदना के साथ एक ओर तो संघर्ष की प्रक्रिया से जूझता है और दूसरी ओर उसकी दृष्टि को भी विकसित करता है किन्तु यदि अनुभव की संवेदना आदर्श एवं नैतिक मूल्यों की पहचान न बन सके तो एक ओर जहाँ उसकी संवेदना जड़ होने की प्रक्रिया में आ जाती है वहीं दूसरी ओर व्यक्तिवादिता और आत्मनिर्वासन की जड़ें इतनी गहरी हो जाती हैं कि सम्पूर्ण मानसिकता ही संज्ञाशून्य और विद्रूप होने लगती है। व्यक्तित्व के विकास की पहली दशा आदर्शवादी एवं नैतिक होने की प्रक्रिया है जबकि दूसरी दशा लगातार जड़ होते भावबोध की एकालाप स्थिति। कवि रामनरेश त्रिपाठी की कविताएँ अपनी यात्रा पहली दशा से आरम्भ करके उसे क्रमशः पूर्ण करती हैं। उनके द्वारा विरचित 'मानसी', 'मिलन', 'पथिक' आदि रचनाएँ आदर्शवादी हैं। त्रिपाठीजी की संवेदनशीलता व चिन्तन की गहराई उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से अनुभव की जा सकती है –

*कभी उदर ने भूखे जन को, प्रस्तुत भोजन पानी।*
*देकर मुदित भूख के सुख की क्या महिमा है जानी?*
*मार्ग पतित असहाय किसी मानव का भार उठा के।*
*पीठ पवित्र हुई क्या*
*सुख से उसे सदन पहुँचा के?*

रामनरेश त्रिपाठी प्रेम के आदर्श स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रेम जीवन की अद्भुत शक्ति है तथा उसके बिना जीवन अर्थहीन है। त्रिपाठीजी के काव्य में प्रेम के निहितार्थ शब्दों एवं संवेदनाओं का विस्तृत फलक है। उनकी प्रेमानुभूति उनके मानस से निकलकर संसार के प्रत्येक प्राणी के हृदय की अनुभूति बन गई है। वे मानवता की मर्यादा और उसकी अनन्त सीमाओं को जानते हैं और अन्ततः उसका निर्वाह करने के आकांक्षी हैं। यही कारण है कि प्रेम के उदात्त स्वरूप को अनुभूति और चिन्तन दोनों स्तरों पर प्रस्तुत करने में वे पूरी तरह सफल हुए हैं। प्रेम की महिमा का गुणगान करती निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए –

*गन्ध-विहीन फूल हैं जैसे चन्द्र चन्द्रिका-हीन।*
*यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन॥*
*प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।*
*ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय-आलोक॥*

नवजागरण काव्य में वर्ण्य विषय का अद्भुत विस्तार देखने को मिलता है। यह अकारण नहीं है कि संवेदनशील कवि रामनरेश त्रिपाठी ने प्रकृति को भी स्वतन्त्र रूप में काव्य का विषय बनाया है। जीवन और जगत् के प्रायः समस्त दृश्यों और पदार्थों को काव्य का विषय बनाने की सफल कोशिश करते हुए वे अपनी रचनाओं में प्रकृति का बड़ा ही मनोहारी चित्रण करते हैं। प्रकृति का उपयोग वे मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लि□ए खास ढंग से करते हैं। वे प्रकृति के इर्द-गिर्द नहीं घूमते अपितु प्रकृति और उसके बिम्बों को मनुष्य की दुनिया के इर्द-गिर्द घुमाते हैं। मानव जीवन में व्याप्त विषमता, असमानता, निरर्थकता आदि को काव्य-संवेदना के स्तर पर वे प्रकृति के माध्यम से भी प्रकट करते हैं–

*या अनन्त के वातायन से स्वर्गिक विपुल विमलता।*
*झलक रही थी धरा धाम को थी धो रही धवलता॥*
*सुख की निद्रा में निमग्न था एक-एक तृण वन का।*
*था बस, सुखद सुशीतल सन-सन मन्द प्रवाह पवन का॥*

जीवन, समाज और संस्कृति से गहरे जुड़े रामनरेश त्रिपाठी का साहित्य की सभी विधाओं पर एकाधिकार है। उनकी दृष्टि तत्युगीन परिवेश, भाषा, छन्द-योजना आदि पर समान रूप से पड़ती है। उनकी कविताओं की भाषा खड़ीबोली है। भौगोलिक दूरियों को तय करती हुई हर अंचल में हल्का छायान्तरण लिए भी वह अपना मूल रूप सुरक्षित रखती है। उनके पास विपुल शब्दावली है। अपनी रचनाओं में भावनाओं का समावेश कर वे उन्हें सम्प्रेषणीय एवं प्रभावी बनाते हैं। त्रिपाठीजी की कविताएँ कोमलता का संचार करती हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों में उन्हें रूपक और उपमा अलंकार विशेष प्रिय हैं। अपनी कल्पना शक्ति के बल पर उन्होंने नूतन उपमान विधान किया है। 'पथिक' में उन्होंने अनेक कोमल उपमानों की योजना की है। उदाहरणार्थ –

*चंचल वीचि मरीचि-वसन से सजकर नीले तन को।*
*होड़-लगी-सी उछल रही थी चारु-चन्द्र-चुम्बन को॥*
*बैठ जलधि तीरस्थ शिला पर पथिक प्रेम-व्रत-धारी।*
*देख रहा था छटा चन्द्र की चित्त विमोहनहारी॥*

कविवर त्रिपाठी की रचनाओं में छन्दों का प्रभावी विधान सहज अनुभूत है। उन्होंने छन्दों को संगीतमय साँचे में ढालकर प्रसंगानुकूल एवं भावानुकूल बनाने का प्रयास किया है। भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति वे अलग-अलग छन्दों में करते हैं। भाव के साथ-साथ उनकी कविताओं में छन्द परिवर्तित होता रहता है तथा पंक्तियाँ छोटी-बड़ी होती रहती हैं।

कविता में प्रतीकों का सहारा कवि को वहाँ लेना पड़ता है जहाँ सामान्य भाषा में प्रभावी अभिव्यक्ति करना संभव नहीं हो पाता। कभी-कभी कुछ शब्द अपना प्रतीकार्थ

**कविता में प्रतीकों का सहारा कवि को वहाँ लेना पड़ता है जहाँ सामान्य भाषा में प्रभावी अभिव्यक्ति करना संभव नहीं हो पाता। कभी-कभी कुछ शब्द अपना प्रतीकार्थ व्यक्त करते हुए रूढ़ बन जाते हैं।**

व्यक्त करते हुए रूढ़ बन जाते हैं । रामनरेश त्रिपाठी अपनी काव्यानुभूति की सार्थक अभिव्यक्ति हेतु प्रतीकों का भी आश्रय लेते हैं । अपने 'मिलन' तथा 'स्वप्न' खण्डकाव्य में प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग कर उन्होंने सूक्ष्म भावों एवं व्यापारों को प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त किया है । उनकी काव्य-कला का अपूर्व चमत्कार वहाँ सहज ही परिलक्षित होता है ।

काव्य का शिल्प उसके वक्तव्य के अनुसार होता है। रामनरेश त्रिपाठी की कविताएँ मानवीय कल्याण व लोकहित को लक्ष्य कर रचित हैं इसी से प्राय: उनकी शैली सांकेतिक और चित्रात्मक न होकर उपदेशात्मक हो गई है ।

समाजशास्त्र में इस रचनात्मक चिन्तन प्रक्रिया को चेतना की संज्ञा दी गई है । परम्पराओं और रूढ़ियों के कारण अक्सर एक तरह की जड़ता को नष्ट करते हुए जो विचार अथवा बुद्धि मनुष्य को नये मार्ग, नये उपाय और नयी उपलब्धियों की ओर ले जाएँ तथा जिसके प्रभाव से व्यक्ति व समाज एक नया जागरण अनुभव करने लगे, वही चेतना है । मनुष्य और सभ्यता की आधारभूमि व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना नहीं है अपितु समाज की चेतना का स्वतन्त्र होना ही मानवीय सभ्यता का आधार है । प्राणियों के अभाव और दुःखों की तीव्रता का अनुभव उस स्तर पर पहुँचकर ही अनुभूत किया जा सकता है । जब रचनाकार परदुःखकातर होकर वंचितों की पृष्ठभूमि को पूरी तरह से आत्मसात कर लेता है तभी उसकी रचना वास्तविक हो अमरत्व को प्राप्त कर पाती है इसीलिए जब वे आदर्श, जीवनमूल्य और नैतिकता को रेखांकित करते हुए लोकमंगल की कामना करते हैं तो उनका रचनात्मक चिन्तन मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को एक साथ समेटते चलता है ।

रामनरेश त्रिपाठी महात्मा गाँधी की विचारधारा के समर्थक हैं । उनकी समस्त रचनाओं में गाँधीवाद के प्रति निष्ठा अभिव्यक्त हुई है । वे निराश, दुःखी, हारे, टूटे मनुष्य के अंतस् में दबी एक चिनगारी देखते हैं । उन्हें विश्वास है कि मनुष्य कभी-न-कभी उसी आशा, प्रेम और विश्वास से पुनः भर उठेगा । देश के लोग फिर से एकमन, एकप्राण हो सकेंगे तब देश में कहीं द्वेष और अलगाव नहीं होगा । इसके लिए वे मानवीय विश्वास जमाने तथा मनुष्य को कर्ममय होने की प्रबल आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं –

*जग में सचर अचर जितने हैं सारे कर्म निरत हैं ।*
*धुन है एक न एक सभी को सबके निश्चित व्रत हैं ।*
*जीवन भर आतप सह वसुधा पर छाया करता है ।*
*तुच्छ पत्र की भी स्वकर्म में कैसी तत्परता है ॥*

बढ़ती हुई अराजकता के मध्य समाज विकास पर जाने की बजाय एक विचित्र आपाधापी की दुरावस्था में पहुँच गया है । जाति, भाषा, धर्म, अर्थ आदि से प्रभावित परिस्थितियों में पिसते आमजन और शोषित वर्ग को देख कवि की पीड़ा उग्र हो उठती है । निर्मम तथा संवेदनाहीन यथास्थितिवादी व्यवस्था को अनुभव कर वह क्रान्तिकारी हो उठता है तथापि यह तमंचाई उग्रता नहीं है । वहाँ परिवर्तन की आकांक्षा शान्त एवं संयमित स्वर में यातना शिविर को ध्वस्त करना चाहती है । कवि सक्रियता उत्पन्न करने का अभिलाषी है –

*फिर कहता हूँ डरो न दुःख से कर्म मार्ग सम्मुख है ।*
*प्रेम-पंथ है कठिन यहाँ दुःख ही प्रेमी का सुख है ॥*
*कर्म तुम्हारा धर्म अटल हो कर्म तुम्हारी भाषा ।*
*हो सकर्म मृत्यु ही तुम्हारे जीवन की अभिलाषा ॥*

कवि रामनरेश त्रिपाठी की रचनाएँ उनकी संवेदनशीलता और जनमानस के प्रति उनके निरन्तर लगाव की प्रबल साक्षी हैं । कवि की करुणार्द्र आत्मा की बेचैनी उनकी रचनाओं में सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति पा गई है । कहना न होगा कि कवि के निर्भय और निर्भीक कर्ममय चेतनापूर्ण मन ने सामाजिक भय और आतंक के बीच सच कहने की शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त कर ली है । त्रिपाठीजी की रचनाएँ उनके निश्छल मन व मार्मिक संवेदना का परिचय देती हैं । अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने जीवनानुभवों को पाठकों के समक्ष रखता हुआ कवि मानवीय संवेदना व कर्ममय दृष्टि को अभिप्रेरित करता है ।

सभ्यता के परिवर्तित होते रूपों के साथ कवि कर्म कठिन होता जा रहा है । इस युग में वही कविता श्रेष्ठ है जो संघर्षरत आम आदमी के यथार्थ और उसकी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषण करे एवं उसे अपने में समाहित कर ले । रामनरेश त्रिपाठी की रचनाएँ इस कसौटी पर खरी उतरती हैं । शासन-तन्त्र की अराजकता, भ्रष्टाचार, दुराचार, अनैतिकता, अधार्मिकता, कर्त्तव्यविमुखता आदि के प्रति विरोध का स्वर और प्रतिरोध की संस्कृति त्रिपाठीजी की रचनाओं में मुखरित है ।

**सन्दर्भ :**


1. त्रिपाठी, रामनरेश, *पथिक (खण्डकाव्य)*, हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग, बारहवाँ संस्करण.
2. शर्मा, हरिचरण, *आधुनिक हिन्दी कविता का इतिहास*, मलिक एंड कंपनी, जयपुर.
3. अधीर, इंदरराज बैद, रामनरेश त्रिपाठी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली.
4. तलवार, वीरभारत, *राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य*, किताबघर, नई दिल्ली.
5. डॉ॰ नगेन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली.
6. वाजपेयी, नन्ददुलारे, *आधुनिक साहित्य*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

# 'कवितावली' में महामारी का परिदृश्य

**संतोष कुमार बघेल**
सहायक प्राध्यापक
आई.टी.एस.महाविद्यालय,
गरियाबंद, बिलासपुर (छ.ग.)

**शोध का सार –**
*कोरोना ने पूरी दुनिया में ऐसी तबाही मचायी है कि लोगों का जीवन न सिर्फ अस्त–व्यस्त हुआ है बल्कि पूरी दुनिया में लाखों-करोड़ों लोगों को अपनी जान भी गवानी पड़ी है। ऐसी स्थिति आज और आने वाले कल के लिए एक सबक है। लेकिन भारतीय संदर्भ में बात की जाये तो वर्तमान समय में शासन और प्रशासन के द्वारा कोरोना से बचाव के लिए विभिन्न माध्यमों से जागरूकता दी जा रही है और कोरोना से बचने के लिए बार-बार सावधान करना और चेतावनी देने के बावजूद, अधिकांश जनता इस चेतावनी को दरकिनार कर अपनी मनमानी कर रहा है, जो घातक है। ऐसी स्थिति में कोरोना जैसी महामारी ने धीरे-धीरे अपना विकराल रूप धारण कर तबाही मचा रखी है जो आगे आने वाले संकट की ओर इशारा कर रहा है। जिस तेज गति के साथ भारतीय समाज की संरचना बदलती जा रही है, उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आने वाला समय ग्लोबल सुविधाओं के साथ विभिन्न संकटों और चुनौतियों से भरा होगा।*

**बीज शब्द –**
महामारी, निर्वहन, पंचकोसी, लोकमर्यादा, मानवीयता।

'महामारी' शब्द 2020 में कुछ इस तरह हमारे जहन में उतरा जो जीवन के समाप्ति के साथ ही खत्म हो सकेगा। जिन दृश्यों को कभी टीवी स्क्रीन पर देखा करते थे, वैसे दृश्य साक्षात् देखकर दिल दहलता रहा। ऐसा नहीं है कि महामारी हमारे पहली बार आयी है। प्राचीन काल से लेकर अब तक प्लेग, हैजा, स्वाईन फ्लू, कोरोना जैसी कई महामारी के प्रकोप का सामना हम कर चुके हैं। इस तरह की महामारियां का आना सहज और प्राकृतिक देन नहीं कही जा सकती है, बल्कि ये मानव के द्वारा निर्मित हैं। आवश्यकता से अधिक प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना और अमानवीय कृत्य इसका प्रमुख कारण बनता जा रहा है, जिससे महामारी जैसी स्थितियां निर्मित होती हैं। यदि हम यह कहें कि ये सब हमारे सभ्य समाज की ही देन है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस बात को जितनी जल्दी समझ ली जाये उतना ही अच्छा होगा। किंतु दुखद पहलू यह है कि समाज के अंदर अब भी इस ओर जिस गति के साथ चेतना आने की जरूरत है, वह नहीं के बतौर है। इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी? कोई भी महामारी हमारे बीच किन कारणों से दस्तक देती है या पैदा होती है, उसके मूल कारणों को जानने और समझने की सख्त आवश्यकता है और इसके बचाव के उपाय को समय रहते अपना लेना अति आवश्यक है।

प्राचीन काल से ही इस तरह की समस्यायें हमारे बीच अपनी उपस्थिति दर्ज कराती रही है। इन विषयों पर प्राचीन काल से ही समाज सापेक्ष दशा और दिशा पर साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका हमेशा से रही है, जो आज भी प्रासंगिक प्रतीत होता है। इसलिये साहित्य को समाज का पथ प्रदर्शक कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा रचित 'रामचरितमानस के माध्यम से भारतीय जीवन को जिस प्रकार से चित्रित किया गया है, वह समसामयिक प्रतीत होता है। इसलिए आज भी समाज की आत्मा राम काव्य को कह सकते हैं।

बहरहाल यहां 'रामायण' की बात न करके उनके द्वारा रचित 'कवितावली' के उत्तरकांड में किये गये महामारी का उल्लेख कर रहा हूँ। 'कवितावली' के माध्यम से समाज के अंदर फैल रही भौतिक और दैहिक सुख को प्राप्त करने के लिए जो आराजकता आम जन मानस के अंदर पैदा हो रही है, उस पर गंभीरता से प्रकाश डाला गया है। उन कारणों की वजह से कैसे महामारी जैसी स्थितियां हमारे बीच पैदा होती है, इस पर चिंतन किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखी गयी 'कवितावली' के उत्तरकांड में महामारी के संदर्भ में दिये गये उपदेश बेहद प्रासंगिक हैं, जिसे बिन्दुवार समझने की कोशिश हुई है।

**कर्म (काम)-**

गीता में कहा गया है 'जैसा कर्म करोगे वैसा फल पाओगे'। कर्म का हम सीधे और सामान्य अर्थ को लेते हैं अर्थात जैसा काम करेंगे, वैसा ही फल अधिकांशत: मिलता है। किन्तु धार्मिक व्याख्या को लेकर अलग-अलग अर्थ गढ़े जा सकते हैं। मोटे तौर पर वर्तमान जीवन शैली के संदर्भ में ही देखें सकते हैं। जहाँ आज का समाज अपनी निजी हित, स्वार्थ और भौतिक सुख-सुविधाओं के आगे अपने मूलभूत कर्तव्यों का निर्वहन नहीं कर पाते हैं। तुलसीदास कहते हैं कि जिस काशी ( संसार) की रचना, मनुष्य जाति के हित के लिए किया गया था, उस उद्देश्य को मनुष्य भूल गया है। इस वजह से समाज नैतिक पतन की ओर अग्रसर है। तुलसीदास लिखते हैं कि-

*"पंचकोस पुण्य को, स्वारथ परारथ को,*
*जानि आप आपने सुपास बास दियो है।*
*नीच नरनारि न सँभरि सकें आदर,*
*लहत फल कारद बिचारि जो न कियो है।*
*बारी बारानसी बिनु कहे चक्रपानि चक्र,*
*मानि हित हानि सो मुरारी मन मियो है।*
*रोष में भरोसा एक, आसुतोष कहि जात,*
*बिकल बिलोकी लोक कालकुट पियो"1*

पंचकोसी की भूमि पुण्यमय है। स्वार्थ और परमार्थ कार्य के लिए उत्तम है। इसलिए काशी में लोगों को बसाया गया था। परन्तु ये लोग नीच प्रकृति के कारण इस आदर को नहीं सँभाल सकें। मोह और अभिमान वश सुकर्म त्याग कर कुकर्म की ओर अग्रसर होने लगे और करने भी लगे। इसलिए काशी में महामारी यहाँ के निवासियों के कर्मों का फल है। जिनके कर्म अच्छे नहीं होते हैं, उनका सहयोग ईश्वर भी नहीं करता है। बल्कि उन्हें दंड देते हैं। अर्थात् भगवान शिव ने काशी के वासियों के कुकर्मों से नाराज होकर उन्हें दण्ड स्वरूप काशी में महामारी फैलायी है। तुलसीदास जी यह कहना चाहते है कि भारतीय समाज को ऐसे कर्म करने चाहिए जिससे लोगों का कल्याण हो, समाज का कल्याण हो। लेकिन भारतीय समाज में ऐसा चरितार्थ कम ही देखने को मिलता है। यदि लोगों का कर्म ऐसा ही रहा तो भयानक विनाश की ओर इशारा है।

दीन और दुखी- हमारे समाज की सबसे बड़ी समस्या गरीबी है, जो किसी महामारी से कम नहीं है। जब तक गरीबी इस संसार में व्याप्त रहेगी, तब तक इस संसार से दीन-दुखी लोगों की समस्या का हल नहीं हो सकता है। इसलिये यह आवश्यक है कि भुखमरी जैसी समस्याओं से निपटा जाये। नहीं तो महामारी जैसी समस्याओं से हम घिरे रहने को बाध्य हो जायेंगे। लेखक ने निम्न पंक्तियों के माध्यम से दीन और दुखी की समस्या को समझते हुए, उसके उपाय की ओर ध्यान आकर्षित किया है क्योंकि महामारी से लोग बाद में मरेंगे, गरीबी और भुखमरी से पहले मर जायेंगे।

*"रचत बिरंचि, हरि पालत, हरत हर,*
*तेरे ही प्रसाद जग, अगजग- पालिके।*
*तोहि में विकास, बिस्व तोही में बिलास सब,*
*दीजै अवलंब जगदंब द बिलंब कीजै,*
*करूना-तरंगिनि कृपा-तरंग मालिके।*
*रोष महामारी, परितोष महतारी दुनी,*
*देखिए दुखारी मनि-मानस-मरालिके"2*

समस्त संसार के रचना करने वाले ब्रह्मा हैं, विष्णु पालन करते हैं और शिवजी संहार करते हैं। हिमालय की पुत्री पार्वती जी से सारे सृष्टि उत्पन्न होती है। हे करूणामयी जगदम्बा, सबको सहारा दीजिये। इन सारे देवी-देवताओं से लेखक विनती करते हैं कि संसार में जितनी दीन और दुखी लोग हैं, उनकी समस्याओं का हल करें क्योंकि जब तक संसार में दीन-दुखी लोग रहेंगे, तब तक इस समस्या का हल निकाल पाना कठिन है। दीन और दुखी की समस्या किसी महामारी से कम नहीं है। यदि यही स्थिति बनी रहेगी, तो यह और भी भयावह महामारी का रूप ले सकती है।

**अनीति-**

जैसे-जैसे स्वहित की भावना लोगों के अंदर आने लगी, लोग दैहिक, दैविक, भौतिक सुख-सुविधाओं को पाने के लिए अपने मूल कर्तव्यों को भूलकर अनीति के कार्यों को करने लगे। यहाँ तक लोग अपराध जैसे कृत्यों को करने से नहीं कतराते हैं। यदि समाज की यही स्थिति बनी रही तो पाप का घड़ा जल्द ही भर जायेगा और समाज का नैतिक पतन होगा, जो किसी महामारी से कम नहीं है। इसलिये काल का चक्र समय-समय पर अपना भयंकर रूप धारण कर लोगों को सचेत करता रहता है। किन्तु समाज की नैतिक अवधारणा बनने के बजाय बिगड़ती जा रही है। पाप के बढ़ते रूप को देखते हुए लेखक लिखते हैं कि-

*"लोगन के पाप, कैधों सिद्ध सुर-साप कैधों*
*काल के प्रताप कासी तिहूँ-ताप तई है।*
*उँचे, नीचे बीच के, धनिक, रंक, राजा राय*
*हठनि बजाय, करि डीठि, पीठि दई है।*
*देवता निहोरे महामारिन्ह सो कर जोरे,*
*भोरानाथ जानि भोरे अपनी सी ठई है।*
*करूनानिधान हनुमान बीर बलवान*
*जसरासि जहाँ तहाँ तैं ही लूटि लई है"3*

लोगों के पाप का घड़ा भरता जा रहा है। इस कारण काशी के लोग दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों प्रकार के कष्टों से पीड़ित हैं। ये सभी लोग( धनी, दरिद्र, राजा) हठपूर्वक जान-बूझकर धर्म-कर्म से विमुख हो बैठे हैं। जब सारे लोग अपने धर्म और कर्म से विमुख हो जायेंगे, तो इस जगत में धर्म के रास्ते पर कौन चलेगा? इसलिये सारे देवतागण भी दैहिक, दैविक, भौतिक सुखों में लीन लोगों की कोई मदद नहीं कर पा रहे हैं। जब तक मानव समाज सुख सुविधाओं की ओर भागते रहेंगे, तब तक महामारी जैसी समस्याओं का आना सहज है। इसलिये किसी भी वस्तु या भौतिक सुविधा का प्रयोग एक सीमा तक हो, तो बेहत्तर होगा। अन्यथा मानवीय और प्राकृतिक विपदा का पैदा होना तय है। नीति और अनीति के बीच के फर्क को समझना अत्यंत आवश्यक है। तब कहीं जाकर जिस सतयुग की कल्पना लेखक ने की थी, वह साकार हो सकती है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं कि-

*"संकर-सहर सर, नरनारि बारिचर,*
*बिकल सकल महामारी माँजा भई है।*
*उछरत उतरात हहरात मरि जात,*
*भभरि भगात, जल थल मीचु मई है।*
*देव न दयालु, महिपाल न कृपालु चित,*
*बानारसी बाढ़ति अनीति नित नई है।*
*पाहि रघुराज, पाहि कपिराज रामदूत,*
*रामहु की बिगरी तुहीं सुधारि लई"4*

काशी मानो एक तालाब है और यहाँ के जीव-जन्तु इस तालाब के निवासी हैं। इस तालाब में जब पहली बारिश होती है, तो वह अपने साथ कई प्रकार की बीमारियों को लेकर आती है, जिससे महामारी फैलने की संभावना होती है। इस कारण इस तालाब के जीव-जन्तु को महामारी से संक्रमित होने का खतरा होता है। ऐसी स्थिति में कोई मदद करने के लिए आगे नहीं आना चाहता है क्योंकि जिस उद्देश्य के साथ लेखक ने काशी नगरी का निर्माण किया था, यहाँ नित्य नई-नई अनीति बढ़ती ही जा रही है। अनीति के साथ लोगों की समस्यायें भी बढ़ती जाती है। इसलिए महामारी जैसी समस्याओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जब तक नीति और अनीति के तराजु में अनीति का पलड़ा भारी रहेगा, तब तक ऐसे परिवेश में महामारी जैसी समस्यायें बनी रहेगी।

लोभ, मोह, काम, क्रोध- ये चारों अवगुण ने लोगों को इतना अंधा बना दिया है कि इससे आगे उन्होंने सोचना एक प्रकार से बंद कर दिया है। भौतिक सुखों के आगे ये लोग अपने मानवीय कर्तव्यों को भूलते जा रहे हैं। अपने कर्तव्यों से विमुख होकर अनैतिक कार्यों को करना भी महामारी फैलाने का प्रमुख कारण बनता जा रहा है। इस संदर्भ में तुलसीदास लिखते हैं कि-

*"निपट अनेरे, अध औगुन दसेरे, नर*
*नारि ये घनेरे जगदंब चेरी चेरे हैं।*
*दारीदी दुखारी देखि भूसुर भिखारी भीरू,*
*लोभ मोह काम कोह कलिमल घेरे हैं।*
*लोकरीति राखी राम, साखी बामदेव जान,*
*जम की बिनति मानि, मातु! कहि मेरे हैं।*
*महामायी, महेसानि, महिमा की खानि, मोद,*
*मंगल की रासि, दास कासी वासी तेरे हैं।"5*

काशी वासी के जो लोग अन्याय, पाप और अवगुणों से घिरे हुए हैं। इनके आचरण ऐसे हैं कि लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि ने इनको जकड़ लिया है, इससे मुक्ति श्रीराम जी दिलवा सकते हैं। किन्तु जिस उद्देश्य से काशी की स्थापना की गयी थी, उस लोक मर्यादा को यहां के लोगों ने भूला दिया है। इस कारण यहां के लोगों में दरिद्रता समा गयी है। इन लोगों ने इस पुण्य लोक काशी के मूल उद्देश्य को भूलकर नित नये-नये अकृत्यों को जन्म दिया है, जिससे महामारी जैसे रोगों का उत्पन्न होना स्वाभाविक लगता है। इन मानवीय कृत्यों से भगवान नाराज हैं।

## लोक मर्यादा-

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि लोग अपने लोक मर्यादा को भूल चुके हैं और ऐसे कृत्यों को करते हैं जिसे नहीं करना चाहिए। इन्हीं कृत्यों के कारण सतयुग की जगह कलयुग ने ले लिया है। आधुनिकता के नाम पर लोग लोक मर्यादा को धीरे-धीरे भूलते जा रहे हैं। आधुनिकता के नाम पर ऐसी संस्कृति का जन्म हो गया है जो विकास के नाम पर अभद्रता को जन्म दे रहा है। प्राचीन मान्यताओं के अच्छे संस्कार को आगे ले जाने की आवश्यकता है। ऐसी परंपरा और संस्कार को आगे बढ़ाना चाहिए।

तुलसी दास जी लिखते हैं कि- रामदूत हनुमान जी से विनती करते हैं कि तुम्हीं रक्षा करो। लक्ष्मण के घायल होने के बाद हनुमान जी ने ही संजीवनी बूटी लाकर जान बचाई थी। वे इस बात को इसलिये कहते हैं कि आज महामारी के दौर में लाखों लोगों की जान महज दवाई की अनुपलब्धता के कारण चली गयी। ऐसी ही संजीवनी बूटी की तालाश कोरोना जैसी महामारी के लिए भी की गयी है। वर्तमान परिदृश्य में भी पिछले एक वर्ष से हनुमान की तलाश है जो संजीवनी बूटी लाकर दे और इस भयंकर महामारी से निजात दिलाये। वे लिखते हैं कि-

*"आश्रम बरन कलि- बिबस बिकल भए,*
*निज निज मरजाव मोटरी सी डार दी।*
*संकर सदोष महामारि ही तें जनियत*
*साहिब सदोष दुनी दिन दिन दारदी।*
*नारि नर आरत पुकारत, मुनै न कोऊ,*
*काहू देवतनि मिलि मोटी मूठि मार दी।*
*तुलसी समीत-पाल सुमिरे कृपालु राम,*
*समय सुकरूना सराहि सनकार दी"6*

चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) के लोगों ने कलयुग के कारण व्याकुल होकर अपनी-अपनी लोक मर्यादा के आचरण को भूला दिया है। इसलिये काशीपति क्रोध में है। इस संसार में दिनोंदिन दरिद्रता बढ़ती

ही जा रही है। इस दरिद्रता के आगे लोगों की सोच व्यापक न होकर संकुचित होती जा रही है। इस कारण से जनता के अंदर की मानवीयता, नैतिकता और करूणा खत्म होती जा रही है।

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित कवितावली का उतरकांड में काशी के उदाहरण से महामारी के संदर्भ में जो प्रसंग दिये हैं वह आज नितांत प्रासंगिक प्रतीत हो रहा है। भले ही वह ईश्वरीय धारणा के आधार पर लिखा गया है। वर्तमान समय में अधिकांश मनुष्य भौतिकवादी जीवन जीने के आदी हो चुके हैं। इन भौतिक सुख-सुविधाओं के अभाव में एक कदम भी चलना, ऐसा प्रतीत होने लगा है, जैसे पहाड़ काटकर रास्ता निकालना। आधुनिक जीवन शैली कुछ हद तक सिनेमाई पर्दे से प्रभावित है, तो कुछ हद तक उच्च वर्ग के लोगों के रहन-सहन से, जो कहीं न कहीं पश्चिमी सभ्यता से भी प्रभावित हो रही है। गांव से लेकर शहर तक के लोग ऐसी ही जीवनशैली को अपनाना चाहते हैं। परिणामस्वरूप अपने आय का निर्धारण संयमित और व्यवस्थित रूप से नहीं कर पाते हैं, जिस कारणवश जीवन बिखर सा जाता है। भारतीय समाज का यह एक अहम् पक्ष यह रहा है।

लोक मर्यादा को लांघना किसी बीमारी से कम नहीं है जो आगे चलकर महामारी का रूप लेने लगता है। महामारी के प्रमुख कारणों को चिन्हित करने की जरूरत है जिससे महामारी की उत्पत्ति होती है। इसलिये महामारी से निपटने के लिए विशेष तौर से साफ-सफाई, स्वच्छ वातावरण, स्वच्छ पानी की सख्त आवश्यकता है। लेकिन आज विकास के नाम पर बढ़ता हुआ प्रदूषण एक प्रमुख कारण है। यदि महामारी जैसे भयंकर प्रकोपों से बचना है तो तुलसीदास के द्वारा दिये गये उपदेशों की ओर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। अन्यथा जो स्थिति अभी है वह बार-बार आने की पूरी संभावना बनी रहेगी।

**संदर्भ ग्रंथ सूची:-**

1-भगवानदीन,लाला.गोस्वामी तुलसीदास. (टीका). कवितावली. लखनऊ. पृष्ठ संख्या. 178
2- वहीं, पृष्ठ संख्या- 179
3- वहीं, पृष्ठ संख्या- 180
4- वहीं, पृष्ठ संख्या- 181
5- वहीं, पृष्ठ संख्या- 179
6-वहीं, पृष्ठ संख्या- 183

**भारत की जनगणना २०११, जनगणना आयुक्त सी. चंद्रमौली द्वारा राष्ट्र को समर्पित भारत की १५वीं राष्ट्रीय जनगणना है, जो १ मई २०१० को आरम्भ हुई थी। भारत में जनगणना 1872 से की जाती रही है और यह पहली बार है जब बायोमेट्रिक जानकारी एकत्रित की गई। जनगणना को दो चरणों में पूरा किया गया। अंतिम जारी प्रतिवेदन के अनुसार, भारत की जनसंख्या २००१-२०११ दशक के दौरान १८,१४,५५,९८६ से बढ़कर १,२१,०८,54,977 हो गई है और, भारत ने जनसंख्या के मामले में अपने दूसरे स्थान को बनाए रखा है। इस दौरान देश की साक्षरता दर भी ६४.८३% से बढ़कर ६९.३% हो गई है।भारतीय संविधान की धारा 246 के अनुसार देश की जनगणना कराने का दायित्व सरकार को सौंपा गया है या संविधान की सातवीं अनुसूची की क्रम संख्या 69 पर अंकित है जनगणना संगठन केंद्रीय गृह मंत्रालय के अधीन कार्य करता है जिसका उच्चतम अधिकारी भारत का महापंजीयक एवं जनगणना आयुक्त होता है यह देश भर में जनगणना संबंधी कार्यों को निर्देशित करता है तथा जनगणना के आंकड़ों को जारी करता है वर्तमान में भारत के महापंजीयक एवं जनगणना आयुक्त डॉक्टर शिव चंद्र मौली है इन से पूर्व इस पद पर देवेंद्र कुमार सिकरी (2004 से 2009)तक थे 2011 ईस्वी की जनगणना यानी 15 वी जनगणना स्वतंत्र भारत की सातवीं जनगणना की शुरुआत महापंजीयक एवं जनगणना आयुक्त के द्वारा 1 अप्रैल 2010 इसमें से हुई है सितंबर 2010 ईस्वी को केंद्रीय मंत्रिमंडल जाति आधारित जनगणना (1931 ईस्वी के बाद पहली बार) की स्वीकृति प्रदान की जो अलग से जून 2011 से सितंबर 2011 ईस्वी के बीच संपन्न हुई थी जनगणना 2011 ईसवी का शुभंकर प्रगणक शिक्षिका थी था इस का आदर्श वाक्य- हमारी जनगणना हमारा भविष्य।**

# स्वाधीन भारत के दो दशक पहले : हिंदी साहित्य में मोहभंग

**डॉ. धनंजय सिंह**
सहायक प्रोफेसर (हिंदी),
डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन आर्ट्स गवर्नमेंट कॉलेज,
यानम- 533464, पॉन्डिचेरी

**शोध-सारांश:**
*प्रस्तुत लेख भारतीय स्वाधीनता के शुरूआती बीस वर्षों के दरम्यान लोकतान्त्रिक मूल्यों की गिरावट को हिंदी साहित्य में अभिव्यक्ति किस रूप में दर्ज़ हुई, उसी को जानने का प्रयास करता है। दरअसल भारत की स्वाधीनता के पहले दो दशक का हिंदी साहित्य लोकतंत्र के लगातार छीजते जाने और संकट में पड़ते जाने का साहित्य है। उस दौर में हर तरफ़ लोगों के सपनों, आशाओं और आकांक्षाओं के टूटने और बिखरने की अनुगूँज सुनाई देती थी। जहाँ ईमानदारी, सच्चाई, भाईचारा, अहिंसा, आज़ादी इत्यादि सब अपना अर्थ खो चुके थे। यह वह समय था जब 'सहानुभूति और प्यार के नाम पर एक आदमी दूसरे को, अँधेरे में ले जाता और उसकी पीठ में छुरा मार देता है'।*

**बीज-शब्द:**
मोहभंग, हिंदी, नई कविता, लोकतंत्र, राजनीति इत्यादि

मोहभंग एक ऐसी स्थिति है जो स्वतंत्र भारत की राजनीति विशेष तौर पर नेहरुवादी सामाजिक-आर्थिक परियोजनाओं की विफलता से पैदा हुई, परन्तु यह अचानक से आयी स्थिति नहीं थी, बल्कि स्वाधीनता के बाद से ही इस स्थिति के उत्पन्न होने के अंकुर फूटने लगे थे। इतिहास की अशांत, पेचीदा और निर्णायक घटनाओं से गुजरते हुए 1947 में आज़ादी मिलने के साथ हमारे स्वाधीन भारत की रचना हुई और इस रचना में माना गया कि अंग्रेजी राज के खिलाफ भारतीय जनता के स्वाधीनता संग्राम के नेतृत्त्व का श्रेय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है। काफी हद तक बात सही है लेकिन कांग्रेस के वर्गीय चरित्र की अधिक चर्चा नहीं की जाती है। सन 1947 पहले के तमाम आंदोलनों में कई क्रांतिकारी शक्तियों का योगदान था। अपने जातिवादी और सांप्रदायिक भेद-भाव को भुलाकर जनता ने एकजुटता का परिचय दिया था। वह अपने आप में बेमिसाल है। बड़े उत्साह और मनोयोग के साथ देश का संविधान निर्मित हुआ। इसके अंतर्गत भारत की संसदीय प्रणाली के तहत गणतंत्र प्रतिष्ठित हुआ। पहले आम चुनाव के साथ प्रत्येक राज्य में विधान सभाओं के साथ केंद्र में संसद अस्तित्व में आई। अपने चुने हुए प्रतिनिधियों से देश की आम जनता में खुशहाली की उम्मीदें मजबूत हुई। जमींदारी उन्मूलन के जरिये खेतों पर काबिज़ काश्तकारों को जमीन दी गई। संविधान की भूमिका में प्रस्तावित राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के तहत बहुत प्रदेशों में ग्राम पंचायत व्यवस्था कायम हुई। इससे एक आशा और विश्वास का वातावरण समूचे देश में व्याप्त हुआ।

प्रधानमंत्री जवाहरलाल के नेतृत्व में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर देश की एक नयी छवि बनी। बदुंग कांफ्रेंस, कोलंबो प्लान, सहअस्तित्व, पंचशील, भारत-चीन मैत्री सम्बन्ध, रूस के साथ सुरक्षा-समझौता और आर्थिक सम्बन्ध, गुटनिरपेक्षता की नीति के माध्यम से पं. नेहरू ने भारत को विश्व के नक़्शे पर एक महत्वपूर्ण राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। लेकिन यह सब सिक्के के एक पहलू हैं, उसका दूसरा पहलू काफी अलग है। बेशक इस दूसरे पहलू के सन्दर्भ में भी काफी अध्ययन हो चुका है, बावजूद इसके लगता है कि स्वाधीनता के पहले दशकों में संकट में राष्ट्र के बारे में अभी कुछ बाकी है। जिसके बारे में पढ़ा-लिखा जाना चाहिए। मैं अपना वक्तव्य अब भी 'कुछ बाकी' के कुछ साहित्यिक चित्रण पर केन्द्रित करूँगा।

हम जानते हैं कि 1947 ई। की स्वाधीनता के बाद भारत की स्वाधीन सरकार ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की आड़ में देश के विकास के लिए जो पूंजीवादी रास्ता अपनाया, उससे देश की आम जनता, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र की जनता की बदहाली बढ़ती गई। भारतीय अर्थतंत्र पर अंग्रेजों और उनके सामंती तथा इज़ारेदार सहायकों के प्रभुत्व को समाप्त किये बिना देश की जनता का आर्थिक विकास दिन दिन में तारे देखने जैसा हुआ। इसके चलते देश की जनता की आर्थिक उन्नति तो दूर रही, अवनति को रोकने का संघर्ष और अधिक कठिन हो गया। सत्ता जनता के एक बहुत बड़े समुदाय से कटकर एक सीमित वर्ग के हाथों में केंद्रित हो गई। स्वाधीनता आंदोलन की मूल कारक शक्ति जनता थी, वही उपेक्षित हो गई। सेना, पुलिस, नौकरशाही, न्यायव्यवस्था आदि के रूप में राजसत्ता पूंजीवादी व्यवस्था का अंग बनी। भारत जैसे धर्म बहुल देश में धर्मनिरपेक्षता की नीति समाज निरपेक्षता के रूप में प्रतिफलित हुई। फलस्वरुप समाजसुधार संबंधी कार्य अधूरे रह गए। इससे समाज की विघटनकारी शक्तियों को खुलकर खेलने की छूट मिली। जगह-जगह जातीय व सांप्रदायिक दंगे हुए, आज़ादी मनमानी लूट-खसोट की पर्याय बन गई। संप्रदायवाद, जातिवाद, भाई-भतीजावाद को निजी ही नहीं, सार्वजानिक संस्थानों से भी बढ़ावा मिला। पंचवर्षीय योजनाओं, पंचायत व्यवस्था, जमींदारी उन्मूलन, भूदान आंदोलन के लाभ से साधारण किसान जनता वंचित रही। सहकारी समितियों, विकासखंडों की स्थापना का लाभ ग्रामीण क्षेत्र के मुट्ठी भर प्रभावशाली संपन्न व्यक्तियों और नौकरशाही द्वारा उठाया गया। लेकिन इस ताम-झाम का पूरा बोझ आम आदमी के सिर पर पड़ा।

**1947 में सत्ता परिवर्तन होते ही कांग्रेस पार्टी ने व्यवस्था परिवर्तन की बात करनी छोड़ दी। समाजवाद का लुभावना नारा जरूर लगाती रही। लेकिन शासन व्यवस्था उसे उपनिवेशवादी ही रास आई। इसलिए स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्त्व करने वाली कांग्रेस पार्टी और 1947 के बाद शासन करने वाली शासक पार्टी के रूप में कांग्रेस की दो अलग भूमिकाएं है।**

अगर इसे साफ़ साफ शब्दों में कहें तो 1947 में सत्ता परिवर्तन होते ही कांग्रेस पार्टी ने व्यवस्था परिवर्तन की बात करनी छोड़ दी। समाजवाद का लुभावना नारा जरूर लगाती रही। लेकिन शासन व्यवस्था उसे उपनिवेशवादी ही रास आई। इसलिए स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्त्व करने वाली कांग्रेस पार्टी और 1947 के बाद शासन करने वाली शासक पार्टी के रूप में कांग्रेस की दो अलग भूमिकाएं है। हालाँकि आज़ादी से पहले ही कांग्रेस की भूमिका में स्वाधीनता के बाद वाली भूमिका के बीज मौजूद थे। जिसे फनीश्वरनाथ रेणु ने सन 1954 में लिखित अपने उपन्यास मैला अंचल में संकेत किया है। उपन्यास में हम देखते हैं कि 1948 के तुरंत बाद आदिवासी संथालों को सजा होती है। चलितर कर्मकार को वारंट भी वापस नहीं होते, सबसे ऊपर यह कि गाँव में बेहद लोकप्रिय डॉ. प्रशांत कुमार को शासक कांग्रेस द्वारा गिरफ्तार कर जेल भी भेजा दिया जाता है। रेणु ने अप्रैल 1948 के आसपास उपन्यास का अंत किया है और सत्ता परिवर्तन के 8-9 महीने में ही कांग्रेस पार्टी को एक शोषक रूप में अच्छी तरह उद्घाटित कर दिया है। कांग्रेस शासन में ताकत व कालाबाजारी कांग्रेसी दुलारचंद कापरा जैसे लोगों के पास है। सत्ता के तंत्र वही हैं- पुलिस इंस्पेक्टर इत्यादि और यही कापरा अपने कालाबाज़ार के धन्धे के लिए गाँधी के सहादत के दिनों में ही गाँधी के प्रिय शिष्य बावनदास को भी गाड़ियों के नीचे जिन्दा ही कुचलवा डालता है। बावनदास की मृत्यु को रेणु ने हिन्दुस्तान के एक बड़े मूल्य व विचार के हत्या के रूप में देख लिया था- “बावन ने दो आज़ाद देशों की, हिंदुस्तान और पकिस्तान की, ईमानदारी को, इंसानियत को, बस दो डेग में ही नाप लिया।” बावनदास के हत्यारे आज़ादी के बीस वर्ष के भीतर ही खुलकर समाज, राजनीति व शिक्षा के ठेकेदार बनकर उभरते हैं। हम इन्हें श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास रागदरबारी में देख सकते हैं। उपन्यास के फ्लैप पर बहुत महत्वपूर्ण पंक्तियाँ लिखी गई हैं, शिवपालगंज की पंचायत, कॉलेज की प्रबंध समिति और कोऑपरेटिव सोसाइटी के सूत्रधार वैद्य जी साक्षात् वह राजनीतिक संस्कृति है, जो प्रजातंत्र और लोकहित के नाम पर हमारे चारों ओर फल-फूल रही है। उपन्यास का एक मुख्य पात्र है- रंगनाथ। उसके मनोदशा का चित्रण करते हुए श्रीलाल शुक्ल ने लिखा है- “सनीचर की विजय के दिन उसने बहुत सोच डाला और उस दौरान उसे प्रदेश की राजधानियों में न जाने कितने वैद्यजी और मुख्यमंत्रियों की कतार में न जाने कितने सनीचर घुसे हुए दिख पड़े।” रंगनाथ के बहाने उपन्यासकार का यह कथन देश की जनतांत्रिक प्रणाली पर एक गहरा कटाक्ष है। एक तरफ़ वैद्यजी जैसे लोग सताधारी हैं और दूसरी तरफ़ जनता हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि राष्ट्रगीत में यही वैद्यजी जैसे लोग ही भारत के भाग्य-विधाता हैं, जो अधिनायक हैं, जिन्हें पहचानने के लिए रघुबीर सहाय ने अपनी कविता ‘अधिनायक’ में सवाल पूछा था कि-

*“राष्ट्गीत में भला कौन वह*
*भारत-भाग्य-विधाता है*
फटा सुथन्ना पहने जिसका

गुन हरचरना गाता है
मखमल टमटम बल्लम तुरही
पगड़ी छत्र चँवर के साथ
तोप छुड़ा कर ढोल बजा कर
जय-जय कौन कराता है।"

इस कविता को पढ़ते हुए एक महत्वपूर्ण सवाल उभरता है कि लोकतंत्र का रखवाला आखिर अपना जय-जय कराने वाला इतना ताकतवर और खूंखार क्या आज़ादी के मात्र बीस वर्षों के दौरान ही हुआ, क्या वह मात्र साम्राज्वाद और पूंजीवाद का ही उत्तराधिकारी था, मुझे लगता है कि उसे भारतीय समाज व्यवस्था के सामंतवादी मानसिकता में भी खोजना होगा। लोकतंत्र के विफलता के कारणों में सामंती सोच के सन्दर्भ में आलोचना के क्षेत्र में बहुत कम अध्ययन हुआ। मुझे लगता है कि भारतीय लोकतंत्र के सफल न होने के वजहों में यहाँ की राजनीति और नौकरशाही की अपनी वर्गीय और सामाजिक पृष्ठभूमि की बड़ी भूमिका है। ये दोनों यानी नेतृत्व और तंत्र अपने अतीत के संस्कारों से ऊपर उठ ही नहीं पाए। लोकतंत्र के इस अधूरेपन से भारतीय राजनीति में राममनोहर लोहिया लगातार लड़ते रहे। यही वजह भी है कि तत्कालीन साहित्यकारों को सबसे अधिक लोहिया ने ही प्रभावित किया था।

भारतीय लोकतंत्र में मोहभंग को गहरा करने में दो महत्वपूर्ण घटनाओं की बड़ी भूमिका है- पहली, भारत-चीन की लड़ाई और दूसरी, सन 1967 के चुनाव में कांग्रेस की हार। तब भारत एक भयंकर संकट से गुजर रहा था। मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' (1963 ई।) में 'एक लंबी कविता का अंत' शीर्षक के अंतर्गत लिखा है, "ऐसी स्थिति में जबकि समाज में संजीवनकारी उत्प्रेरक आंदोलन या ऐसी संगठित शक्ति नहीं है, एक संवेदनशील मन जिसमें अब तक अवसरवादी कौशल और लाभ-लोभ की समझदारी विकसित नहीं हुई है, केवल अपने को निस्सहाय महसूस करता है। यदि वो कवि होता है तो सहज मानवीय आकांक्षाओं के सामाजिक वातावरण के अभाव में उसके काव्यात्मक रंग अधिक श्यामल, अधिक बोझिल और अभावग्रस्त हो जाते हैं।" लेकिन रघुवीर सहाय अपनी कविता 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' में साफ शब्दों में कहते हैं-

*"बीस बरस बीत गए*
*लालसा मनुष्य की तिलतिल कर मिट गयी।।।*
*टूटते टूटते*
*जिस जगह आकर विश्वास हो जायेगा कि*
*बीस साल धोखा दिया गया*
*वहीँ मुझसे फिर कहा जाएगा*
*विश्वास करने को।"*

जाहिर है, इस स्थिति का जिम्मेदार वह तंत्र और नेतृत्व था, जिसने आज़ादी के बाद सामाजिक आधारों को बदले बगैर 'लोकतंत्र' की कल्पना की थी। इस लोकतंत्र के हवाले से उसने जनता की मुक्ति और विकास का वायदा किया था। लेकिन समय बीतने के साथ ही इस तंत्र के लोकतान्त्रिक दावों की कलई खुलती गई और इन दावों का असत्य प्रकट होता गया-

"दूर...............
राजधानी से
कोई क़स्बा दोपहर बाद छटपटाता है,
एक फटा कोट, एक हिलती चौकी, एक लालटेन
दोनों, बाप मिस्तरी और बीस बरस का नरेन
दोनों पहले से जानते हैं पेंच की मरी हुई चूड़ियाँ
नेहरु युग के औज़ारों को
मुसद्दी लाल की सबसे बड़ी देन।"

कविता की इन पंक्तियों में रघुवीर सहाय 'मिस्तरी' बाप और 'बीस बरस के नरेन' के माध्यम से स्वतंत्र भारत में जी रहीं दो पीढ़ियों का मूल्यांकन कर रहे हैं, जो पेंच के कसने की मजबूरी में विफलता झेल रहें हैं। मरे हुए पेंच यानी अन्दर से घिसे हुए पेंच को आप कहीं भी कसे वह कसेगा नहीँ। लोकतंत्र और आज़ादी का ढांचा तो खड़ा किया गया परन्तु उस ढांचे को कसने वाला पेंच घिसा हुआ साबित हुआ। 'घिसे हुए पेंच' से तात्पर्य है- भारतीय नौकरशाही की वह मानसिकता है जो उसे सदियों से विरासत में मिली है। यही वह मानसिकता की विरासत जो लोकतंत्र के ढांचे को खड़ा नहीं होने देता है। अंततः यह भारतीय राष्ट्र को संकट की ओर ले जाता है। मुसद्दीलाल की जमातों ने अपने वर्गीय और सामाजिक स्वार्थों की कभी छोड़ा ही नहीं। इसीलिए आज़ादी के बीस साल बाद धूमिल को लोकतंत्र बेमतलब का लगता है-

*"बीस साल बाद और इस शरीर में*
*सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुज़रते हुए*
*अपने-आप से सवाल करता हूँ–*
*क्या आज़ादी सिर्फ़ तीन थके हुए रंगों का नाम है*
*जिन्हें एक पहिया ढोता है*
*या इसका कोई खास मतलब होता है?"*

आज़ादी के बाद दिखने वाले अंधेरे की घुटन अलग तरह की वेदना की तरह रिसती हुई सामने आती हैं। लेकिन मुक्तिबोध की अंतर्घनीभूत पीड़ा से बिल्कुल अलग धूमिल का बेहद मुखर आक्रोश कुछ इस तरह फूटता और हमसे टकराता है कि हम अपने भीतर एक झनझनाहट-सी महसूस करते हैं। मुक्तिबोध के 'अंधेरे में' के भीतर आधी रात को डोमाजी उस्ताद के पीछे-पीछे चलने वाले पत्रकार, सैनिक, ब्रिगेडियर, जनरल धूमिल की पटकथा में बिल्कुल परिभाषित कर दिए जाते हैं-

*'वे वकील हैं।*
*वैज्ञानिक हैं।*
*अध्यापक हैं।*
*नेता हैं।*
*दार्शनिक हैं।*
*लेखक हैं।*
*कवि हैं।*
*कलाकार हैं।*

*यानी कि-*
*कानून की भाषा बोलता हुआ*
*अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।"*

मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय के बाद धूमिल तब के जटिल समय के ताले खोलने वाली तीसरी बड़ी आवाज हैं। जो बम मुक्तिबोध के भीतर कहीं दबा पड़ा है और रघुवीर सहाय के यहां टिकटिक करता नजर आता है, धूमिल तक आते-आते जैसे फट पड़ता है।

जिस तरह मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी आदि कवि राजनीति से प्रभावित हुए उसी प्रकार समकालीन राजनीति का प्रभाव धूमिल पर भी प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। धूमिल युवा वर्ग के रहे कवि हैं और वे स्वयं ये मानते थे कि युवा लेखन के लिए राजनीति से परिचित रहना बेहद जरुरी है। मोहभंग को नई कविता से अलग करके नहीं देखा जा सकता। हालाँकि धूमिल का मोहभंग नई कविता के कवियों से भिन्नता लिए हुए है। यह भिन्नता बहुत स्थूल न होकर सूक्ष्म है। नयी कविता के कवियों में मोहभंग से गहरी पीड़ा उत्पन्न होती है, लेकिन धूमिल को झटका तो लगता है परन्तु वे चीत्कार नहीं करते। वे तमाम चीज़ों को सहज रूप में लेते हैं। वे अपने को जनतंत्र और व्यवस्था पर केन्द्रित करते हैं और उसकी असलियत उजागर करते हैं।

"दरअसल अपने यहाँ जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है।"

**निष्कर्ष:**

भारत की स्वाधीनता के पहले दो दशक का हिंदी साहित्य लोकतंत्र के लगातार छीजते जाने और संकट में पड़ते जाने का साहित्य है। तब के राष्ट्र को रघुवीर सहाय शब्दों में कह सकते हैं कि "लोकतंत्र मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इंसान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।" इस दौर में आज़ादी से मोहभंग का सिलसिला धूमिल तक आते-आते उफान पर था। यह विषम और भयावह परिस्थितियों तथा विसंगतियों का ऐसा काल था जहाँ हर तरफ़ लोगों के सपनों, आशाओं और आकांक्षाओं के टूटने और बिखरने की अनुगूँज सुनाई देती थी। जहाँ ईमानदारी, सच्चाई, भाईचारा, अहिंसा, आज़ादी इत्यादि सब अपना अर्थ खो चुके थे। यह वह समय था जब 'सहानुभूति और प्यार के नाम पर एक आदमी दूसरे को, अँधेरे में ले जाता और उसकी पीठ में छुरा मार देता है।' यह ऐसा समय था, जब सहज होना भी कठिन और दुर्लभ हो गया था। ऐसे समय में नक्सलवाडी जैसे आन्दोलन का जन्म होना लाजिमी था। कुल मिलाकर स्वाधीनता के बाद पहले बीस वर्षों का हिंदी साहित्य केवल नेहरू-युग की ही आलोचना नहीं है, बल्कि वह जैसी लोकतांत्रिक संरचना हमने बनाई है, उसके मूल अंतर्विरोधों और ख़तरों का भी साहित्य है।

**हिन्दी और इसकी बोलियाँ सम्पूर्ण भारत के विविध राज्यों में बोली जाती हैं। भारत और अन्य देशों में भी लोग हिंदी बोलते, पढ़ते और लिखते हैं। फ़िजी, मॉरिशस, गयाना, सूरीनाम, नेपाल और संयुक्त अरब अमीरात में भी हिन्दी या इसकी मान्य बोलियों का उपयोग करने वाले लोगों की बड़ी संख्या मौजूद है। फरवरी २०१९ में अबू धाबी में हिन्दी को न्यायालय की तीसरी भाषा के रूप में मान्यता मिली।**

**'देशी', 'भाखा' (भाषा), 'देशना वचन' (विद्यापति), 'हिंदवी', 'दक्खिनी', 'रेखता', 'आर्यभाषा' (दयानन्द सरस्वती), 'हिंदुस्तानी', 'खड़ी बोली', 'भारती' आदि हिंदी के अन्य नाम हैं जो विभिन्न ऐतिहासिक कालखण्डों में एवं विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी, यूरोपीय भाषा-परिवार के अन्दर आती है। ये हिन्द ईरानी शाखा की हिन्द आर्य उपशाखा के अन्तर्गत वर्गीकृत है।**

# राजस्थान की सन्त-वाणी में प्रकृति और पर्यावरण

**डॉ हरीश कुमार**
सह-आचार्य, हिन्दी-विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
जैतारण (पाली) राजस्थान

**शोध – सारांश**
*निर्गुणमार्गी संतों ने मानव जीवन के साथ जीवमात्र के कल्याण की कामना की है और उनके लिए वनस्पति जीवन भी अपवाद स्वरूप नहीं। राजस्थान में अनेक संतों ने उसी भावभूमि पर एक निराकार ईश्वर की बनाई इस सृष्टि का समता की दृष्टि से देखने का ज्ञानमार्गी उपदेश दिया। इन संतों से जो संप्रदाय या पंथ चल निकले वे राजस्थान की धार्मिक व सांस्कृतिक परंपराओं की अनूठी पहचान बन गये हैं। राजस्थान में वि. सं. 1542 में सन्त जाम्भोजी जी ने बिश्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की। वे प्राकृतिक व्यवस्था में अटूट विश्वास करते थे तथा भविष्य में होने वाले पर्यावरण-असंतुलन के प्रति सचेष्ट थे। इसलिए उन्होंने जीव-दया एवं हरे वृक्षों की सुरक्षा के लिए अनिवार्यता प्रतिपादित की। जाम्भोजी की मान्यता थी कि जीव-जन्तु प्रकृति प्रदत अमूल्य निधि हैं। हरे वृक्ष तो प्राणवायु हैं अतः उनका संहार मानव समाज का संहार है। जांभोजी के पश्चात कवि वील्होजी ऐसे संत हुए जिन्होंने जाम्भोजी के मानवतावादी धर्म, जीव-दया, हरे वृक्षों की सुरक्षा आदि कार्यों को जारी रखा। राजस्थान में जाम्भोजी के परवर्ती विभिन्न पंथ, संप्रदायों के संतों ने प्रकृति को अधिकांशत: उपदेशात्मक रूप में ग्रहण किया प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों की ओर संकेत करते हुए न केवल ब्रह्म को सर्वव्यापी बताया अपितु इसे प्रतीक रूप में ग्रहण कर अपने उपदेशों को आम जनता के लिए सरल बनाया। संत रामचरण कहते हैं कि पात-पात में पुरुषोत्तम का निवास है, माटी का महादेव बनाकर उस पर पत्ते तोड़कर चढ़ाना, परमात्मा को दुख देना है। इस प्रकार रामस्नेही संप्रदाय में जीवो की रक्षा का इतना अधिक ध्यान रखा जाता है कि रामस्नेही जन पानी कपड़े से छान कर प्रयोग में लाते हैं, सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते, रात में दीपक नहीं जलाते और वर्षा ऋतु में चार मास एक स्थान पर व्यतीत करते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में धार्मिक मान्यताओं की अहम भूमिका रही । इनका मूल सिद्धांत ही प्रकृति और मनुष्य के बीच में समन्वय है। इनकी मान्यताएं हमेशा से प्रकृति के संरक्षण में निहित रही । संतमत के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व ही प्रकृति से निर्मित है, इनकी प्रत्येक मान्यता एवं परम्परा में प्रकृति का संरक्षण केन्द्र बिन्दु है।*

**बीज़ शब्द**
राजस्थान, संत, विश्नोई, रामस्नेही, संप्रदाय, प्रकृति, पर्यावरण।

निर्गुण आंदोलन मध्ययुग की सबसे बड़ी सामाजिक, धार्मिक और अन्ततोगत्वा मानव जीवन के सभी पहलूओं से जुड़ी एक विशाल क्रांति थी। मध्ययुग के इन संतों का वाणी-साहित्य मूलत: एक प्रकाश मार्ग है, जो सभी प्रकार के अज्ञान एवं अंधकार को दूर कर देना चाहता है। निर्गुणमार्गी संत केवल मानव जीवन से ही प्रेम नहीं करता बल्कि प्राणीमात्र का प्रेमी है और उसके लिए वनस्पति जीवन भी अपवाद स्वरूप नहीं। कबीर ने कहा है कि-

"जैन जीवन की शुद्धि नहीं जाने पाती तोड़ि देहुरे आने"[1]

अर्थात जैनियों को जीवन का महत्व ज्ञान नहीं, क्योंकि वे पत्तियां तोड़ कर उन्हें मंदिरों में चढ़ाया करते हैं। यह विश्वास की सब कोई किसी भी योनि में जन्म धारण कर सकते हैं, सब किसी को एक वृहत भ्रातृ-समाज में बांधने का प्रेमसूत्र बन जाता है। निर्गुणमार्गी संत केवल अहिंसा का

ही सिद्धांत स्वीकार नहीं करता वह विरोध का भाव भी अपनाए रहता है। किसी को भी मनसा, वाचा व कर्मणा से हानि नहीं पहुंचनी चाहिए।

जिस प्रकार उत्तर भारत में नानक, कबीर आदि संतों ने धर्म में पनपे कठमुल्लापन का विरोध कर निर्गुण भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, उसी प्रकार राजस्थान में अनेक संतों ने उसी भावभूमि पर एक निराकार ईश्वर की बनाई इस सृष्टि का समता की दृष्टि से देखने का, लोकोपकार का और अनासक्ति को ही धर्म के प्रमुख कर्तव्य के रूप में देखने का ज्ञानमार्गी उपदेश दिया। इन संतों से जो संप्रदाय या पंथ चल निकले वे राजस्थान की धार्मिक व सांस्कृतिक परंपराओं की अनूठी पहचान बन गये हैं और यहां की महत्वपूर्ण देन है।[2] इनमें रामानंद के प्रमुख शिष्य संत पीपाजी विशेष उल्लेखनीय हैं। पीपाजी ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के विभिन्न पशु-पक्षियों को निमित्त बनाया और उन्हें चिन्हित कर मानव मन की चंचलता, चिन्तन-दर्शन में प्रतीकात्मक भावों से आत्मा-परमात्मा का संबंध जोड़ा। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रयुक्त तरूवर, अंबरीक(आकाश) गिरवर, चंद्रमा, सरवर, गगन-तीर्थ, देव स्वामी जैसे शब्द जहां परमतत्व के लिये प्रयोग किये वहीं जनपांखी, मोर, चकोरा, मंछा(मछली), विहंग, कासी, बंछा(बछड़ा) पाती, सेवक जैसे शब्द जीवात्मा के लिए उपयोग में लिए जिनसे परमात्मा तथा जीवात्मा का संबंध उजागर होता है यथा-

*"तू मेरा तरवर है, जनपांखी है। अंबरीश ध्रू नारद साषी।*
*जौ तुम्ह गिरवर तौ मैं भोंरा। जौ तुम्ह चंदाराम तौ मैं चकोरा।"*[3]

इसी क्रम में राजस्थान की धरा पर वि. सं. 1542 में सन्त जाम्भोजी जी का अवतरण हुआ। उन्होंने बिश्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की। जाम्भोजी की सबदवाणी तथा उनके द्वारा प्रदत 29 नियमों में प्रकृति के विभिन्न घटकों-जल, वर्षा, सूर्य, चंद्रमा, ऋतुओं आदि का उल्लेख करने के साथ ही वनों की रक्षा एवं वन्य जीवों की सुरक्षा के संबंध में विशद् वर्णन मिलता है। वे प्राकृतिक व्यवस्था में अटूट विश्वास करते थे तथा भविष्य में होने वाले पर्यावरण-असंतुलन के प्रति सचेष्ट थे। इसलिए उन्होंने अपने जीवन-काल में मुख्य लक्ष्य के रूप में जीव-दया एवं हरे वृक्षों की सुरक्षा के लिए अनिवार्यता प्रतिपादित की। जाम्भोजी की मान्यता थी कि जीव-जन्तु प्रकृति प्रदत अमूल्य निधि हैं। हरे वृक्ष तो प्राणवायु हैं अतः उनका संहार मानव समाज का संहार है। हरे वृक्षों के संहार को उन्होंने हत्या तुल्य अपराध की संज्ञा दी। वन संपदा एवं वन्य प्राणियों के सामाजिक, आर्थिक महत्व का आंकलन वे इस प्रकार से करते हैं –

*"जीव न मारो, सिद्धि रहे हैं।*
*सब जीवन कूं ईश्वर निहारो।।*
*लीला रूंख न काटो कोई।*
*अष्ट सिद्धि नौ निधि खड़ी रहे घर माही।।"*[4]

जाम्भोजी के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व ही प्रकृति से निर्मित है। अतः उन्होंने उसी प्रकृति के बीच अपना वास बताया। साथ ही उन्होंने चैतन्य जीव रक्षा के अतिरिक्त वनस्पति छेदन को भी अनुचित एवं पाप कर्म ठहराया। उन्होंने अपने द्वारा प्रतिपादित 29 धर्म नियमों में 'वनस्पति रक्षा' को एक धर्म-नियम बनाया, वह कहते हैं-

*"हरा वृक्ष नहीं काटना यह सबका मंतव्य।*
*रक्षा में तत्पर रहो जान यही कर्तव्य।।"*[5]

जांभोजी के पश्चात कवि वील्होजी ऐसे संत हुए जिन्होंने जाम्भोजी के मानवतावादी धर्म, जीव-दया, हरे वृक्षों की सुरक्षा आदि कार्यो को जारी रखा। वस्तुत: वील्होजी ने विश्नोई संप्रदाय को जाम्भोजी के बाद सुदृढ़ता प्रदान की। बिश्नोई धर्म के पालन हेतु उन्होंने बत्तीस आखड़ी(नियम) लिखी। जिनमें से एक प्रसिद्ध है-

*"जीव दया नित राख, पाप नहीं कीजिये।*
*जांडी हिरण संहार, देख सिर दीजिये।।"*[6]

कथा अवतारपात के छन्द में उन सभी वन्य जीवों, पखेरूओं, वृक्षों, जंगल आदि को धन्य बताया गया है जहां जाम्भोजी ने विचरण किया था। इस छन्द को बिश्नोई समाज के लोग एक मंत्र के रूप में जपते हैं। खेजड़ी वृक्षों की रक्षार्थ (जिसे राजस्थान का कल्पवृक्ष माना जाता है) करमां और गोरा ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था। इस कथा के माध्यम से संत वील्होजी ने सभी को संदेश देते हुए लिखा-

*गुरु फुरमाई षांडाधार, और आयो सारीयै।*
*आपणड़ो जीव कबूल, पर जीव उबारियै।।*
*उबारियै जीव - जीव काजै, राणि सधीरो होयो।*
*रोषां ऊपरी मरण मातो,कीजै ज्यै करमणि कीयो।।*
*करणी पालि उजाळी सतपथ, प्रेम जोति पाईयो।*
*जीव काजै जिंद परच्यौ, टीमों गुरु फरमाइयो।।*[7]

अर्थात गुरु महाराज(जाम्भोजी) ने खांडे की धार वाला यह पंथ बताया है। अवसर आने पर दूसरे जीव की रक्षार्थ अपने प्राण दे देनी चाहिए। अपने हृदय में धैर्य धारण करते हुए दूसरे जीवों को बचाइए। वृक्षों की रक्षार्थ मरना चाहिए जैसे करमणि ने अपना बलिदान किया। संत वील्होजी कहते हैं कि वृक्षों को काटना पाप का आरंभ है, जो दया हीन होकर वृक्षों को काटता है और जीवों को दुख देता है, उसे कुम्भीपाक नरक मिलता है, जहां तीखी धार से उसका शरीर काटा जाता है, यह हरे वृक्ष काटने का फल है-

*रुंख विरथ रोपावै दंभ, पाप तणौ मांडै आरम्भ।*
*दयाहीण काटी वणरा, जीव असंख्य दहया दुंहलाय।।*
*पान वहै करवत ज्यौ धार, वन बाढ्यां का ए उपगार।*
*दोर कुंभ तणो ओ कारि, जीव नीपजता समै झारी।।*[8]

वृक्षों की रक्षा करते हुए अगर प्राण देने पड़े तो भी वील्होजी कहते हैं-

*"सिर साटै रुंख रहै, तो भी सस्तो जांण।"*

राजस्थान में जाम्भोजी के परवर्ती विभिन्न पंथ, संप्रदायों के संतों ने प्रकृति को अधिकांशत: उपदेशात्मक

रूप में ग्रहण किया प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों की ओर संकेत करते हुए न केवल ब्रह्म को सर्वव्यापी बताया अपितु इसे प्रतीक रूप में ग्रहण कर अपने उपदेशों को आम जनता के लिए सरल बनाया। सिंथल रामस्नेही संप्रदाय के संत हरिरामदास ने मनुष्य, हरे वृक्ष एवं पंछी का सुंदर चित्रण इस साखी में किया है-

*"देष कबाड़ी आवतौ, तरवर डोलण लग।*
*मो पड़ीया का डर नहीं, पंछी का घर भग।।"*[9]

संत कवि साधक को राम नाम की साल सँभाल रखने की बात करते है तो पश्चिमी राजस्थान की 'सेवण घास' का माध्यम बनाते है –

*"हरिया राम संभारिए, जब लग पिंजर सास ।*
*सास सदा नहीं प्रांहनौ, जो सावण का घास ।।"*[10]

संत हरीराम दास जी संगत के चित्रण में भी प्रकृति का सहारा लेते है, वे कहते हैं –

*" संतो संगत का फल जाणी,*
*तर सत्संग काठ तै लोहा, तारे नाव पखानी"*[11]

रामस्नेही संत राघोदास की वाणी में तो 'श्री बारामासों' नाम से पूरा का पूरा ग्रंथ ही प्राप्त होता है जिसमें प्रकृति का आलंबन, उद्दीपन आदि विभिन्न रूपों में स्वतंत्र वर्णन किया गया है, इस ग्रंथ की कुल छंद संख्या 232 है –

*बाहरा महीना काट कर, विच – मैं देवल नींव ।*
*राघा सेवा पदरावसां, परसण होसी पीव ।।*
*जेठ असाढ़ा खंदा कियाँ, दोनों विच मैं पोल ।*
*किमाड़ महीनो तेरमों, राघा रातो चोल ॥*[12]

कबीर एवं जाम्भोजी की भांति शाहपुरा रामस्नेही संप्रदाय के संत रामचरण फूलपत्तियों के तोड़ने को भी हिंसा ही समझते हैं। निर्जीव की पूजा करने वाली पुजारिन निर्दयतापूर्वक सजीव फूलपत्ति की हत्या करती है। अपने पेट के आगे उसे पाप नही दिखते। ब्राह्मण भी यही किया करते हैं। फूल को जड़ मूर्ति पर ले जाकर चढ़ा देते हैं और घड़ी पहर में वह सूख जाता है। जब कर्ता इसका विवरण मांगता है तो उस समय जीभ नहीं डोलती-

*सरजीवत पाती फूल हत निर्जीव पूजणहारी।*
*पुनि राम कहां से खिज मरै ये बड़ी मोल संसार।*
*तोड़ै फलता-फूलता ज्यां दया न दिल कै मांहि।*
*कारज अपणा उदर कै, पातक नहिं दर्शाहिं।*
*पातक नहिं दर्शाहि ल्याय जढ़ ऊपर धरि हैं।*
*घड़ी जाम जाय सूक विप्र यह किरिया करि हैं।*
*कर्ता लेखो मांगसी जब जीभ उथलसी नांहि।*
*तोड़ै फलता-फूलता ज्यां दया न दिल कै मांहि।*[13]

संत रामचरण कहते हैं कि पात-पात में पुरुषोत्तम का निवास है, माटी का महादेव बनाकर उस पर पत्ते तोड़कर चढ़ाना, परमात्मा को दुख देना है।

*"पात पात पुरुषोत्तम व्यापक, ताकूं तोड़ संतावै।*
*माटी का महादेव बणावै, जापर ल्याय चढ़ावै।*[14]

इस प्रकार वे फूल पत्ती को तोड़ने में भी हिंसा का अनुभव करते हैं, फिर निर्दोष बनवासी पशु जिसका आहार ही तृण-जल है, की हत्या करने में बहुत बड़ा पाप का बोझ सिर पर चढ़ता है- *"निरदावै वन में रहै, तृण जल करै आहार।*
*रामचरण ताकूं हत्या, बहुत चढ़ै शिर भार।।"*[15]

इस प्रकार रामस्नेही संप्रदाय में जीवो की रक्षा का इतना अधिक ध्यान रखा जाता है कि रामस्नेही जन पानी कपड़े से छान कर प्रयोग में लाते हैं, सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते, रात में दीपक नहीं जलाते और वर्षा ऋतु में चार मास एक स्थान पर व्यतीत करते हैं। इस संबंध में खेड़ापा रामस्नेही संप्रदाय के संत रामदास के शिष्य परमराम के विचार द्दष्टव्य हैं-

*जल छाणन के कारणे, गाढ़ो कपड़ों देख।*
*अण छाण्यों नहीं पीजिये, जल में जीव अनेक।।*
*जल में जीव अनेक, दया के ग्रंथ विचारो।*
*जुगल पटां जल छाण, जुगत जीवाणी डारो।।*
*या विध जल कूं परसराम, वरतो सहित विवेक।*
*जल छाणन के कारणे, गाढ़ो कपड़ों देख।।*[16]

इसी प्रकार संत वील्होजी भी कहते हैं-

*अण छांण्यो पांणी बावरै, अवही पाप अनंत करै।*
*अभष भषयो व बुध्यनास, मुवां पछै दोरमा वास।।*[17]

अर्थात बिना छाने हुए जल का प्रयोग करने से अनेक जीवों की हत्या होती है, इस पाप का कोई अंत नहीं है, इसलिए पानी छानकर पीना चाहिए, जो मनुष्य उत्तम खाद्य पदार्थ छोड़कर मांस भक्षण करते हैं, उसी से बुद्धि नष्ट होती है। वह मरने पर नरकवासी होता है। यहां वील्होजी भोजन की सात्विकता के अतिरिक्त पानी को छानकर पीने की बहुत छोटी लगने वाली परंतु गहनता से विचार करने पर अत्यंत महत्वपूर्ण व मंगलकारी शिक्षा लोक को देते हैं। यह अत्यंत महत्वपूर्ण इसलिए भी है क्योंकि उस समय पश्चिमी राजस्थान में पानी से बाला रोग हो जाता था। लेकिन जल को छानकर पीने से इस रोग से बचा जा सकता था।

इस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में धार्मिक मान्यताओं की अहम भूमिका रही है। इनका मूल सिद्धांत ही प्रकृति और मनुष्य के बीच में समन्वय है। इनकी मान्यताएं हमेशा से प्रकृति के संरक्षण में निहित है। अत: संतमत के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व ही प्रकृति से निर्मित है, इनकी प्रत्येक मान्यता एवं परम्परा में प्रकृति का संरक्षण केन्द्र बिन्दु है। इन संतों ने प्रकृति को मानव भोग्या मात्र समझने की अपेक्षा पशु-पक्षी, पेड़-पौधों, भूमि-जल आदि को दिव्यता से सम्पृक्त कर इन सबके प्रति पवित्रता और कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित किया है।

**सन्दर्भ:-**

1. दास श्यामसुंदर-कबीर ग्रंथावली ,22 वा संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
2. नीरज,जयसिंह- राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, 1989, जयपुर, पृ.24
3. शर्मा, ललित- राजर्षि सन्त पीपाजी, प्रथम संस्करण, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर पृ. 107

4. पारीक, सूर्यशंकर- जाम्भोजी की वाणी सबद 09, प्रथम संस्करण 2001, विकास प्रकाशन, बीकानेर
5. वही, सबद 73
6. बिशनोई, कृष्णलाल- वील्होजी की वाणी- बतीस आखडी, प्रथम संस्करण बीकानेर
7. वही, साखी-4
8. वही, कथा ग्यानचरी
9. क्षमाराम- हरिराम दासजी म. की अनुभव वाणी-संगीत को अंग-21, वि.सं. 2052, सींथल, बीकानेर
10. वही, चित्रावन को अंग, छन्द संख्या.105
11. वही, हरिजस, पद संख्या.145
12. दास, राघो- राघोदासजी म. की अनुभव वाणी, ग्रंथ बारामासो, दोहा-1,2(हस्तलिखित), निमाज (पाली)
13. पाण्डेय, माधवप्रसाद- स्वामी रामचरण: जीवन एवं कृतियों कि अध्ययन, 1982, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग,पृ-359
14. वही, पृ.सं. 360
15. वही, पृ.सं. 360
16. शास्त्री, भगवददास- श्री परसरामजी म.की अनुभव वाणी-दया को अंग-01 वि.सं.2031, अहमदाबाद
17. बिशनोई, कृष्णलाल- वील्होजी की वाणी- बतीस आंखडी, प्रथम संस्करण, बीकानेर

हिन्दी भाषा का इतिहास लगभग एक हज़ार वर्ष पुराना माना गया है। हिन्दी भाषा व साहित्य के जानकार अपभ्रंश की अंतिम अवस्था 'अवहट्ठ' से हिन्दी का उद्भव स्वीकार करते हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने इसी अवहट्ठ को 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया।

अपभ्रंश की समाप्ति और आधुनिक भारतीय भाषाओं के जन्मकाल के समय को संक्रांतिकाल कहा जा सकता है। हिन्दी का स्वरूप शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से विकसित हुआ है। १००० ई. के आसपास इसकी स्वतंत्र सत्ता का परिचय मिलने लगा था, जब अपभ्रंश भाषाएँ साहित्यिक संदर्भों में प्रयोग में आ रही थीं। यही भाषाएँ बाद में विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में अभिहित हुईं। अपभ्रंश का जो भी कथ्य रूप था - वही आधुनिक बोलियों में विकसित हुआ।

अपभ्रंश के सम्बंध में 'देशी' शब्द की भी बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से देशी शब्द एवं देशी भाषा दोनों का बोध होता है। प्रश्न यह कि देशीय शब्द किस भाषा के थे ? भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उन शब्दों को 'देशी' कहा है 'जो संस्कृत के तत्सम एवं सद्भव रूपों से भिन्न है। ये 'देशी' शब्द जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावतः अप्रभंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परंतु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है, प्राकृत-व्याकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अतः जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको देशी संज्ञा दी गई।

# संत कवि नितानंद के काव्य में विरह-वेदना

**डॉ. अमित कुमार**
सहायक प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग
हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय,महेंद्रगढ़-123031

संत काव्य परम्परा में अनेक संत कवियों का योगदान रहा है।संसार के झमेलों से अपने को बचाते हुए इन संत कवियों ने सांसारिक कर्मों को मनुष्य को उसकी मूल राह से भटकाने वाले कारक माना है, इसलिए उन्होंने समाज में भक्ति के भाव की स्थापना की कामना के साथ मनुष्य को नेक राह पर चलने की सीख दी है। अनेक संत कवियों को उनके जीवन-काल में वह प्रसिद्धि प्राप्त हुई, जिसके वे हकदार थे। आलोचकों की पसंद-नापसंद ने भी उनके मूल्यांकन में महत्ती भूमिका निभाई है। आज भी अनेक ऐसे कवि हमारे यहाँ हैं, जिनके काव्य पर चर्चा करना प्रासंगिक जान पड़ता है। नितानंद ऐसे ही कवि हैं, जिन पर अपेक्षाकृत कम बातचीत हुई है।इसके अनेक कारण हो सकते हैं। बहरहाल,वे संत काव्य परंपरा के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उनका जन्म 1710 ई. के आस-पास हरियाणा के महेंद्रगढ़ जिले के नारनौल नगरमें हुआ था। नितानंद जी का मूल नाम नंदलाल था। उनके गुरु गुमानी दास थे। नितानंद की रचनाओं का एकमात्र संकलन 'सत्य सिद्धांत प्रकाश' है जिसके संचयन का श्रेय भोलादासप्रज्ञाचक्षुको जाता है। यहभोलादास जी की वजह से ही संभव हो पाया कि संत नितानंद की वाणी का लिखित रूप आज हमें देखने को मिल सका है।

नितानंदको जीवन से वैराग्य हुआ था।वे सांसारिक सुख-दुख सेविरक्त हो भक्ति की राह पर चले।जीवात्माऔर परमात्मामेंवेकोई भेद नहीं समझते थे, इसलिएउनके जीवन का उद्देश्य जीवात्मा को परमात्मा से मिलाने का ही रहा। उनके काव्य में हमें आत्मा की परमात्मा से मिलने की तड़प बहुत दिखाई देती है। विरह में नितानंद परमात्मा के सामने जीवात्माऔर स्वयं को सखी मानते हैं। वेजीव को परमात्मा के घर से आया हुआ बताते हैं।इसीलिये विरह का एकमात्र कारण जीव का परमात्मा से अलग होना ही है। जीवात्मा अपने ब्रह्म का एक अंश है और वह उसमें ही जाकर मिलना चाहती है। इसलिए वह बावली सखी की तरह यहाँ-वहां घूमती हुई एक स्थायी ठौर की तलाश करती है।नितानंद जीवात्मा के रूप में स्वयं परमात्मा से मिलने के लिए बेचैन हैं और कहते हैं :

*"हर प्रीतम के नगर से, आया विरह नरेश ।*
*नितानंद बौरी सखी, चलो पिया के देस।।"1*

पिया का देश से यहां अभिप्राय परमात्मा के उस स्थान से है जहां जाने के लिए आत्मा निरन्तर जन्म लेती है और कभी उससे मिल नहीं पाती। यह न मिलना एक तरह से मिलना ही है। मिलन के बाद तो जीवन का लक्ष्य जैसे खत्म ही हो जाता है। अतः यह न मिलना और मिलने की हसरत लिए जीव की बेचैनी उसे हरदम अपने प्रिय से जोड़े रखती है। इसलिए आत्मा बार-बार जन्म नहीं लेना चाहती, क्योंकि जन्म लेने से उसे अपने प्रिय से दूर रहनापड़ता है, जो वह कभी नहीं चाहती।यही कारण है कि वह जन्म-मरण के चक्र से हमेशा के लिए मुक्ति चाहती है,ताकि अपनेप्रिय परमात्मा का संग उसे हमेशा मिलता रहेऔर कभी बिछुड़ना न पड़े। जीवात्माको नितानंद एक विरहिणी की तरह देखते हैं। गृहस्थी से सदैव दूर भागने वाले इस संत कवि ने परमात्मा और जीवात्मा को पति-पत्नी के रूपक में देखा है। वे कहते हैं :

*"जिस नगरी बालम बसें, हम उस नगर चलां।*
*अखियां पंख लगाय कर, सन्मुख जाय मिलां।।"2*

बालम की वह कौनसी नगरी है जहाँ नितानंद प्यारी बनकर पहुंचना चाहते हैं।अपनी रचनाओं में उन्होंनेइस नगरी को अनेक नामों से पुकारा है। अन्य संत कवियों ने भी उस नगरी का अपने-अपने अनुसार सृजन किया है। यह नगरी हमें केवल कवि की कविताओं में ही दिखती है, असल में होती नहीं.किसीभी रचनाकार का यह एक यूटोपिया है।जैसे रैदास के यहाँ 'बेगमपुरा' नाम का शहर आया

जो हर प्रकार के दुखों और सीमाओं से परे है। यह उसअदृश्य नगरी के नाम हैं जहां आत्मा के बालम बसते हैं।

आत्मा रूपी यहविरहिणी परमात्मा रूपी पिया से रू-ब-रू होना चाहती है। बिना मिले उसे कुछ भी नहीं सुहाता, न चैन पड़ता। रात-दिन वह इसलिए सिसकती है क्योंकि पिया उसकी सुध लेना भूल गए हैं। अब वह बीच में झूल रही है। एक तरफ संसार है जो अपने स्वभाव में ही निष्ठुर है। जहां प्रेम के लिए कोई जगह नहीं है, दूसरी तरफ पिया का 'घर' है जहाँ प्रेम ही प्रेम है, यहां लेकिन पिया अपनी प्यारी को भूल गए हैं और प्यारी जिनके बिन रोती है, सुबकती है, अधमरी हुई जाती है। वह दिन-रात जागती रहती है और पिया अर्थात अपने स्वामी की ओर टकटकी लगाए रहती है। नितानंद ऐसे ही जीव के बारे में कहते हैं कि वह परमात्मा से मिलन के लिए व्याकुल है। उसकी व्याकुलता बिना हरि के दर्शनों के कम नहीं हो सकती। हरि उसके चेतन-अचेतन मन में भीतर तक समाया हुआ है। जीव भी हरि को न सोते हुए बिसराता है, न जागते हुए। बिन दर्शनों के जीव की व्याकुलता जैसे मिटती ही नहीं :

*"सोवत सजन न बीसरूं, जागत टेरूं पीव।*
*नितानंद दर्शन बिना, बिकल हमारा जीव।।"3*

नितानंद जीव और ब्रह्म के बीच विरह को एक पर्दा मानते हैं। विरह और संसारिकता का पर्दा ही जीव को ब्रह्म से मिलने नहीं देता। यह पर्दा महीन तोहै किंतु निरंतर अपने होने का आभास कराता है. इस पर्दे का हटना जीव के लिए एक आस और उपलब्धि की तरह है। विरह जीव के लिए हिमालय-साहै जो उसे उसके प्रिय तक पहुँचने में बाधापहुंचाता है. यह विरह ही है जोजीव के मन को भी गला देता है तो कभी यह समुद्र की तरह अपनेअथाह होने का अहसास भी कराता है। विरहमानोजीव के लिए जंजाल है और जीवइस जाल से मुक्ति चाहता है। इसी मुक्ति की उम्मीद में ही नितानंद कहते हैं :

*"नितानंद वह कद मिलै, मिला मिलाया लाल।*
*जब लग परदा बीच में, लगा बिरह जंजाल।।"4*

विरह का एकमात्र कारण आत्मा का परमात्मा के प्रति खिंचाव है। अन्य भक्त कवियों की तरह नितानंद को भी आत्मा और परमात्मा स्त्री-पुरुष की तरह दिखाई देते हैं. आत्मा और परमात्मा दोनों के बीच गहरा प्रेम है। यह प्रेम ही है जो दोनों को जोड़े रखता है और अलग नहीं होने देता। और यह प्रेम ही है जो इहलोक से जीव को आज़ादी दिला सकता है। प्रेम संत कवियों के यहां अलग-अलग रूपों में आया है। नितानंद ने भी प्रेम को जीव की मुक्ति के लिए आवश्यक माना है। अपनी बात को वे इस तरह से कहते हैं :

*"इश्क़ रब्ब की मेहर है, इश्क रब्ब की याद।*
*इस दुनिया की क़ैद से, करे इश्क आज़ाद।।"5*

नितानंदहर बार जीव और ब्रह्म को भिन्न रूप में देखते हैं।जीव और ब्रह्म यहाँस्त्री-पुरुष के रूप में हैं तो लेकिन वे एक-दूसरे में बदलते रहते हैं। स्त्री कभी पुरुष बन जाती है तो पुरुष कभी स्त्री।इसीलिये जीव को कभी स्त्री के रूप में देखते हैं तो कभीपुरुष के रूप में भी।जग में आशिक यहाँ जीव है और उसकी माशूक ब्रह्म।आशिक को माशूक बिन यह सारा संसार सूना लगता है, तो कहीं ब्रह्म 'महबूब' के रूप में है और यह इश्क का ही प्रभाव है कि आशिक माशूक हो जाता है। नितानंद कहते हैं कि ऐसा लगता है जैसे इस रूपांतरण के कारण ही इश्क में यह खेल तमाशे की तरह नजर आता है। स्वयं ही देखिये :

*"आशिक को माशूक बिन, सब जग लगे उदास।*
*रहे इश्क की क़ैद में, के हर चरण निवास।।"6*

--- --- ---

*"इश्क आय कर ले गया, जहां आप महबूब।*
*आशिक मासुक हो गया, हुआ तमासा खूब।।"7*

इश्क और विरह के इस धूप-छाँव को कवि नितानंद ने अपनी कई रचनाओं में अभिव्यक्त किया है। जीवात्मा में ब्रह्म से मिलने का एक उत्साह है। उसके मन में एक कसक है।वह आध्यात्मिक और भौतिक दोनों रूपों से ईश्वर से मिलन चाहती है।आत्मा जब पिया के घर जाने में अपने को असमर्थ मानती है तो उसे यह उम्मीद होती है कि पिया ही अपना घर छोड़कर उसके इस लोक में आयेंगे, तब वह उनके दर्शन से अपने को तृप्त करेगी। इस संसार में वह बहुत दुखी है। संसार के झंझावात उसे अपने में उलझाये ही रखते हैं। वह दुखों के भवसागर से पार उतरना चाहती है। इसके लिए उसे अपने उसी महबूब का इंतज़ार है जिसे वह कभी भक्तिभाव से तो कभी दास्य भाव से अपने पास बुलाना चाहती है:

*"मेरा साहेब कब घर आवे।*
*दर्शन देख सभी दुख भाजैं, सुख की लहर दिखावे।।*
*काया नगर में करे रोशनी, दिल दा देस बसावे।।*
*भर-भर नैन चैन से निरखूँ, अंग में अंग मिलावे।"8*

--- --- ---

*"मेरे हिबरे में बस गयो रामां।*
*हर दर्शन की प्यास हमारे, कद पहुंचे उस गामां।।"9*

--- --- ---

*"नितानंद वह कद मिलै, जिसकी मेरे प्यास।*
*बिन देखे महबूब के, आठों पहर उदास।।"10*

--- --- ---

*"नितानंद कासे कहूं, अपने दुःख की बात।*
*पीव मिले तो जीव जीए, बिना मिले मर जात।।"11*

विरह प्रेम की कसौटी है। यह कसौटी ही बताती है कि आप किसी से कितना प्रेम करते हैं। संसार में आज भी उसी प्रेम को याद रखा गया है जिसने विरह की कठिन घड़ी में भी अपने को जिंदा रखा है। विरह की यह बेचैनी, तड़प, पीड़ा दोनों को एक-दूसरे से जोड़े रखती है। विरह में जीवात्मा अपने को इतना भूल जाती है कि उसे अपने शरीर तक का ध्यान नहीं रहता। उसकी स्थिति उस सूखी लकड़ी और सूखी लता की तरह हो जाती है जिससेअब किसी भी अंकुर के फूटने की आस बाकी नहीं रहती।उसे अपने जीवन में कोई आधार नहीं

दिखाई देता। उसकी सब उम्मीदें ख़त्म हो जाती हैं। ब्रह्म का आसरा उसे इसीलिये चाहिए कि उसके जीवन में भी उम्मीद का बल्ब जल जाए और उसका प्रकाश उसके बाहर-भीतर को आलोकित करे :

*"सूक सूक लकड़ी भई, मिले न सींचनहार।*
*नितानंद कब पाइए, जीवन प्रान अधार।।"12*
--- --- ---
*"तन पीरा सीरा बचन, और उनमने नैन।*
*जिव को जब तक लग रही, नितानंद दिन-रैन।।"13*
--- --- ---
*"विरहिन डोले ढूंढती, कहाँ पीव का बास।*
*नितानंद को दरश दो, जन्म-जन्म का दास।।"14*

नायिका की नितानंद के यहाँ कोई स्पष्ट पहचान नहीं है।वह एक आत्मा है जिसे किसी एक नाम से हम जान नहीं सकते। आत्मा एक प्रवाह है। एक संसार। एक चेतना। इस आत्मा के विरह को देखते हुए हमउन नायिकाओंको याद कर सकते हैं,जो खून के आंसू रोतीहैं।नितानंद के यहाँ न ब्रह्म का कोई घोषित नाम है, न जीवात्मा का। यह अलग बात है कि नितानंद ने उसी ब्रह्म को 'पिया', 'महबूब', 'सजन', 'साहेब', 'बालम', 'राम', 'हरि' आदि नामों से संबोधित किया है। उसका कोई एक नाम नहीं है, न कोई एक रूप। उसी अनेक नामों वाले प्रिय से जीवात्मा का न मिलने के कारण उसमें बेचैनी इतनी है कि विरह में उसकी देह पीलीपड़ जाती है और वह ठंडी आहें भरती है। उसे अपने प्रिय की गंध चाहिए, जिसके बिना वह एक क्षण भी जी नहीं सकती। वहअपना सबकुछ अर्पित कर केवल उस ब्रह्म को पाना चाहती है जो अथाह है। रात-दिन वह एक ही धुन में रमी हुई दिखती है तो इसलिए कि हरि बिन उसे और कोई अपना नज़र नहीं आता।

## संदर्भ


1. नितानंद; सत्य सिद्धांत प्रकाश; ग्रंथ संग्रहकर्ता: भोलादास प्रज्ञाचक्षु; जटेला धाम, ग्राम व डाक : माजरा, जिला-झज्जर(हरि.); संस्करण: 2015; पृ. 34 / 1
2. वही;पृ. 36 / 29
3. वही;पृ. 45 / 94
4. वही;पृ. 47 / 113
5. वही;पृ. 52 / 164
6. वही;पृ. 54 / 180
7. वही;पृ. 54 / 187
8. वही;पृ. 553 / 173
9. वही;पृ. 508 / 104
10. वही;पृ. 46 / 109
11. वही;पृ. 35 / 16
12. वही;पृ. 44 / 87
13. वही;पृ. 41 / 52
14. वही;पृ. 50 / 145


**हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाकर हिन्दुस्तानी भाषा कहा जाता है। हिन्दुस्तानी मानकीकृत हिन्दी और मानकीकृत उर्दू के बोलचाल की भाषा है। इसमें शुद्ध संस्कृत और शुद्ध फ़ारसी-अरबी दोनों के शब्द कम होते हैं और तद्भव शब्द अधिक। उच्च हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा है (अनुच्छेद ३४३, भारतीय संविधान)। यह इन भारतीय राज्यों की भी राजभाषा है : उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, उत्तरांचल, हिमाचल प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली। इन राज्यों के अतिरिक्त महाराष्ट्र, गुजरात, पश्चिम बंगाल, पंजाब और हिन्दी भाषी राज्यों से लगते अन्य राज्यों में भी हिन्दी बोलने वालों की अच्छी संख्या है। उर्दू पाकिस्तान की और भारतीय राज्य जम्मू और कश्मीर की राजभाषा है, इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, बिहार, तेलंगाना और दिल्ली में द्वितीय राजभाषा है। यह लगभग सभी ऐसे राज्यों की सह-राजभाषा है; जिनकी मुख्य राजभाषा हिन्दी है।**

# गालो समाज का दर्शन

**डॉ. तादाम रूती**
सहायक प्रोफेसर
गवर्मेंट कॉलेज दोइमुख
पापुम पारे, अरुणाचल प्रदेश

**सारांशिका:**
इस आलेख में अरुणाचल प्रदेश के गालो समाज का दर्शन अर्थात् जीव-जगत, भगवान, आत्मा-परमात्मा, प्रकृति आदि से जुड़ी मान्यताओं पर दृष्टि डाली गई है। आलेख के आरम्भ में दर्शन शब्द को व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। तत्पश्चात गालो जनजाति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस तरह आगे गालो समाज की आत्मा-परमात्मा, सृष्टि-सृष्टा, जीव-जगत आदि मान्यताओं पर चर्चा की गई है। गालो में बहुत सारे देवी-देवताएँ हैं और अधिकतर निर्गुण-निराकार रूपों में पूजे जाते हैं। मिथकों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्माण्ड एक अथाह शून्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। माना जाता है कि इसी अथाह शून्य से 'जिमी आनअ' (स्वयंभू देवी/शून्य-माता) की उत्पत्ति हुई। गालो में विश्वास किया जाता है कि 'जिमी आनअ' ने ही पृथ्वी तथा संसार के सभी जीव-जन्तुओं का निर्माण किया। गालो में यह माना जाता है कि इस संसार में जो भी है उसका कोई न कोई मालिक अवश्य होता है। इसीलिए गालो में हरेक प्राकृतिक वस्तुओं के लिए देवी-देवताएँ हैं जैसे- 'आनअ दोञी' अर्थात सूर्य को माता के रूप में, 'आबो पोलो' अर्थात चन्द्र को पिता के रूप में, 'यापोम-याजे' (वन की देवी-देवता), बड़े-बड़े वृक्षों का देवता, जीतअ-बोतअ (घर का देवता), आलि-आम्पिर (आन्न की देवी), नदी का देवता, पका (शिकार का देवता), आइ-आगाम (अच्छी किस्मत एवं समृद्धि) आदि। गालो लोगों का विश्वास है कि इन सभी देवी-देवताओं की कृपा से ही वे स्वस्थ रहते हैं और समृद्ध होते हैं। तरह हम कह सकते हैं कि गालो समाज बहुदेव वादी है और इनकी मान्यताओं को हम लोकतांत्रिक कह सकते हैं जो सर्वात्मवाद में विश्वास करते हैं।
दर्शन को सभी ज्ञान की माता (स्रोत) कही जाती है। यह संस्कृत की 'दृश' धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ 'देखना या जिसे देखा जाए' होता है यानी जिसके द्वारा यथार्थ तत्त्व की अनुभूति हो। अंग्रेजी में जो दर्शन के पर्याय 'फिलॉसोफी' है उसका अर्थ 'ज्ञान के प्रति अनुराग' है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार 'दर्शन वास्तविकता के स्वरूप का तार्किक विवेचन है"। दर्शन-शास्त्र के संदर्भ में दर्शनकोश में इस तरह व्याख्यायित किया गया है- 'स्वत्त्व (अर्थात प्रकृति तथा समाज) और मानव-चिन्तन तथा संज्ञान की प्रक्रिया के सामान्य नियमों का विज्ञान।' इसमें आगे लिखते हैं- 'दर्शन एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित होने लगा। जगत के विषय में सामान्य दृष्टिकोण का विशदीकरण करने, उसके सामान्य मूलों तथा नियमों का अध्ययन करने, यथार्थ के विषय में चिन्तन की तर्कबुद्धिसंगत विधि, तर्क तथा संज्ञान के सिद्धान्त विकसित करने की आवश्यकता से दर्शन का विज्ञान के रूप में जन्म हुआ।' दर्शन शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है और विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न विद्वानों ने इसका अलग-अलग अर्थ में ग्रहण किया परन्तु इसका सर्वसम्मत परिभाषा इस प्रकार हो सकती है- दर्शन ज्ञान की वह शाखा है, जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं मानव के वास्तविक स्वरूप सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने का साधन और मनुष्य के करणीय और अकरणीय कर्मों का तार्किक विवेचन किया जाता है। इस प्रकार एक जाति या समुदाय के दर्शन को एक आलेख में व्याख्यायित करना संभव नहीं है।

**बीज शब्द:**
दर्शन, गालो, समाज, आत्मा-परमात्मा, प्रकृति, जीव-जगत, दोञी-पोलो, यीरनअ-गोनअ, दोञी-पोलो, सीतुम-जोरे, जीतअ-बोतअ, आलि-आम्पिर, पका-कातअ, दिगो-बारजी, आइ-आगाम, निर्गुण-निराकार देवी-देवता आदि।

गालो जनजाति अरुणाचल प्रदेश की प्रमुख जनजातियों में से एक है। गालो जनजाति को देश के अन्य जनजातियों एवं आदिवासियों की तुलना में काफी अलग और प्रगतिशील माना जा सकता है। इसकी संस्कृति-परम्परा तथा सामाजिक व्यवस्था बहुत समृद्ध और विकसित है। आधुनिक शिक्षा का आगमन इस क्षेत्र में बहुत विलम्ब से हुआ फिर भी इसकी स्थिति अपेक्षा से अधिक संतोषजनक है। गालो समाज के बारे में यह कहना कोई अतिशयोक्ति या अहंकार की बात नहीं होगी कि यह अरुणाचल प्रदेश की लगभग छब्बीस जनजातियों में सबसे प्रगतिशील समुदायों में से एक है। इसकी कुल जनसंख्या २०११ की जनगणना के अनुसार लगभग डेढ़ लाख है। जनसंख्या की दृष्टि से अरुणाचल प्रदेश में यह ञिशी और आदी के बाद तीसरी सबसे बड़ी जनजाति है। गालो जनजाति अरुणाचल प्रदेश के मध्य भाग में स्थित छः जिलों में बसी हुई है- वेस्ट सियाङ, लोअर सियाङ, ईस्ट सियाङ, लप्पा रादा, शी योमी तथा अपर सुबनसिरी। इन जिलों के अतिरिक्त अरुणाचल के कई जिले में यह बसने लगी है।

विश्व के हर समाज का अपना नियम-कानून होता है, उसकी अपनी आस्था और मान्यताएँ होती हैं जिसके आधार पर समाज व्यस्थित रूप और सुचारू ढंग से चलता है। आत्मा-परमात्मा, सृष्टि-सृष्टा, जीव-जगत आदि के विषय में हर समाज की अपनी अपनी मान्यताएँ एवं विश्वास है। गालो जनजाति में भी इन सब के विषय में अपनी मान्यताएँ है, हालाँकि आधुनिक शिक्षा एवं लेखन परम्परा के अभाव में कभी इन विषयों पर गालो में व्यवस्थित और विधिवत तरीके से अध्ययन नहीं किया। इसलिए दर्शन या दर्शन शास्त्र का विधिवत विकास इस समाज में नहीं हो पाया। फिर भी इस पत्र में गालो जनजाति के मिथकों, लोक-विश्वासों, लोक-मान्यताओं, पूजा-पद्धत्तियों आदि के आधार पर सृष्टि के मूल तत्त्वों यानी ईश्वर, जीव, जगत, प्रकृति जैसे विषयों पर चर्चा की गई है।

**विश्व के हर समाज का अपना नियम-कानून होता है, उसकी अपनी आस्था और मान्यताएँ होती हैं जिसके आधार पर समाज व्यस्थित रूप और सुचारू ढंग से चलता है। आत्मा-परमात्मा, सृष्टि-सृष्टा, जीव-जगत आदि के विषय में हर समाज की अपनी अपनी मान्यताएँ एवं विश्वास है। गालो जनजाति में भी इन सब के विषय में अपनी मान्यताएँ है, हालाँकि आधुनिक शिक्षा एवं लेखन परम्परा के अभाव में कभी इन विषयों पर गालो में व्यवस्थित और विधिवत तरीके से अध्ययन नहीं किया।**

ईश्वर एक आशा है, विश्वास है, प्रेरणा है- सकारात्मक सोच का, सत्कर्म का। इसलिए विश्व के लगभग सभी समुदायों में परम शक्ति यानी ईश्वर की परिकल्पना की गई है। सृष्टि के निर्माण कर्त्ता तथा सृष्टि का चालक उस अज्ञात सत्ता को जानने का सतत प्रयास हर समाज ने किया है। इसी अज्ञात शक्ति की खोज करते हुए किसी ने एक परम तत्त्व में विश्वास किया तो किसी ने अनेक शक्तियों में विश्वास किया। जो एक ईश्वर में विश्वास करते हैं उसे 'एकेश्वरवादी' कहा गया तथा अनेक ईश्वर में विश्वास करने वालों को 'बहुदेववादी या अनेकेश्वरवादी' कहा गया। गालो समाज अनेकेश्वरवाद में विश्वास करता है। गालो में बहुत सारे देवी-देवताएँ हैं जैसे- यीरनअ-गोनअ, दोञी-पोलो, सीतुम-जोरे, जीतअ-बोतअ, आलि-आम्पिर, पका-कातअ, दिगो-बारजी, आइ-आगाम आदि। ये सब देवी देवताएँ अधिकतर निर्गुण-निराकार रूपों में पूजे जाते हैं। मिथकों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्माण्ड एक अथाह शून्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। माना जाता है कि इसी अथाह शून्य से 'जिमी आनअ' (स्वयंभू देवी/शून्य-माता) की उत्पत्ति हुई। यह परिकल्पना बहुत हद तक हिन्दुओं से मिलती-जुलती है क्योंकि हिन्दुओं में भी विश्वास किया जाता है कि ब्रह्माण्ड में अथाह शून्य थी जिसके पश्चात 'स्वयंभू' अर्थात 'ॐ कार' की गूँज से परमात्मा की उत्पत्ति हुई। गालो में विश्वास किया जाता है कि 'जिमी आनअ' ने ही पृथ्वी तथा संसार के सभी जीव-जन्तुओं का निर्माण किया। जिमी आनअ के अतिरिक्त गालो में बहुत सारे देवी-देवताओं की परिकल्पना की जाती है। इस समुदाय के लोग प्रकृति के बहुत करीब रहने के कारण प्राकृतिक वस्तुओं में देवी-देवताओं को देखते हैं। गालो में यह माना जाता है कि इस संसार में जो भी है उसका कोई न कोई मालिक अवश्य होता है। इसीलिए गालो में हरेक प्राकृतिक वस्तुओं के लिए देवी-देवताएँ हैं जैसे- 'आनअ दोञी' अर्थात सूर्य को माता के रूप में, 'आबो पोलो' अर्थात चन्द्र को पिता के रूप में, 'यापोम-याजे' (वन की देवी-देवता), बड़े-बड़े वृक्षों का देवता, जीतअ-बोतअ (घर का देवता), आलि-आम्पिर (आन्न की देवी), नदी का देवता, पका (शिकार का देवता), आइ-आगाम (अच्छी किस्मत एवं समृद्धि) आदि। गालो लोगों का विश्वास है कि इन सभी देवी-देवताओं की कृपा से ही वे स्वस्थ रहते हैं और समृद्ध होते हैं। गालो समुदाय में विश्व के अन्य धर्मों की तरह नियमित रूप से पूजा-पद्धत्ति नहीं होती। इसके लिए कोई बाध्यता नहीं होती। परिवार में जब कोई अस्वस्थ होता है या दुर्घटना घटित होती है तभी पूजा या अनुष्ठान करते हैं और साल-दो सालों में जब आवश्यकता अनुभव करते हैं तब भी परिवार के कल्याण के लिए पूजा या अनुष्ठान की जाती है। इन देवी-देवताओं के अतिरिक्त प्रेतात्माओं तथा शैतानों

की भी परिकल्पना की गई है जिसे 'उयु-ओरोम' कहते हैं। जो भी अशुभ या अनहोनी घटनाएँ होती हैं वे प्रेतात्माओं के कारण ही होती है। इन प्रेतात्माओं के कारण अगर कोई पीड़ित होता है तो उसके निवारण के लिए 'ञिबुह' (पुजारी) के द्वारा पूजा या अनुष्ठान की जाती है जिसमें ञिबुह लोकतांत्रिक ढंग से प्रेतात्माओं के साथ वार्तालाप करते हैं और उन्हें संतुष्ट करने के लिए उपहार स्वरूप पालतू पशु-पक्षियों की बलि चढ़ाई जाती है जिसे 'उयु मोनाम' कहते हैं। इस तरह से दोनों में समझोता हो जाता है। गालो में यह भी विश्वास किया जाता है कि 'उयु-ओरोम' अकारण लोगों को परेशान नहीं करते। जाने-अनजाने जब कोई व्यक्ति उन्हें परेशान करता है या उनकी राह में बाधा पहुँचाता है तभी वह भी मनुष्य को परेशान करता है।

धरती और प्रकृति जीवन का आधार है इसलिए सभी दर्शनों में इसपर पृथक-पृथक मान्यताएँ हैं। किंवदन्तियों और उपाख्यानों में विश्वास करने वाले इसे ईश्वर का निर्माण मानते हैं जबकि विज्ञान में विश्वास करने वाले इसे क्रमागत विकास (एवोलुशन थियोरी) मानते हैं। गालो समुदाय की मान्यताओं एवं मिथकों के अनुसार 'जिमी आनअ' ने सृष्टि का निर्माण किया। उन्होंने धरती और आकाश बनाया और दोनों के मिलन से अन्य सभी सांसारिक जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति हुई। धरती को गालो में 'सिची आनअ' कहते हैं तथा आकाश को 'मदो आबो'। अर्थात धरती को माता कहा जाता है और आकाश को पिता। इसीलिए गालो समाज में धरती में विद्यमान समष्ट वस्तुओं तथा प्राणियों के लिए आदर, सह-निवास तथा सामुहिक विकास का भाव है। वे कभी भी शोषण की नीति में विश्वास नहीं करते। उनका मानना है कि आवश्यकताओं से अतिरेक उपभोग करना पाप है। ऐसे लोभियों को ईश्वर या देवी-देवता देखता है जो उसके अनुचित कार्य के लिए दण्ड देता है। आज विश्व में मनुष्य अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए धरती का तथा अन्य संसाधनों के लिए धरती पर जो अत्याचार एवं शोषण-ढोहन कर रहा है, इससे धरती धीरे-धीरे मर रही है। ऐसी स्थिति में गालो समाज में धरती के साथ सह-निवास तथा सौहार्द की परिकल्पना और भी अधिक प्रासंगिक हो जाती है। यह दावा नहीं कर सकता कि यहीं जीवन जीने का श्रेष्ठ मार्ग है परन्तु यह मार्ग समष्ट विश्व के कल्याण के लिए एक अच्छा विकल्प जरूर हो सकता है। गालो समुदाय में इसी सार्वभौमिक कल्याण तथा उन्नति की बात करते हैं।

**धरती और प्रकृति जीवन का आधार है इसलिए सभी दर्शनों में इसपर पृथक-पृथक मान्यताएँ हैं। किंवदन्तियों और उपाख्यानों में विश्वास करने वाले इसे ईश्वर का निर्माण मानते हैं जबकि विज्ञान में विश्वास करने वाले इसे क्रमागत विकास (एवोलुशन थियोरी) मानते हैं। गालो समुदाय की मान्यताओं एवं मिथकों के अनुसार 'जिमी आनअ' ने सृष्टि का निर्माण किया। उन्होंने धरती और आकाश बनाया और दोनों के मिलन से अन्य सभी सांसारिक जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति हुई। धरती को गालो में 'सिची आनअ' कहते हैं तथा आकाश को 'मदो आबो'। अर्थात धरती को माता कहा जाता है और आकाश को पिता। इसीलिए गालो समाज में धरती में विद्यमान समष्ट वस्तुओं तथा प्राणियों के लिए आदर, सह-निवास तथा सामुहिक विकास का भाव है।**

कारण जैसा भी रहा हो गालो समुदाय प्राचीनकाल से ही प्रकृति की पूजा करते आई है। प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा करने के पीछे विद्वानों में मतेक्य नहीं है। अधिकतर लोगों का मानना है कि मनुष्य प्राकृतिक ताकतों को जब नियंत्रित नहीं कर पाए या जीत नहीं पाए तो उसके डर से उसकी पूजा प्रारंभ किया। कुछ लोगों का मानना है कि जब मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों को समझ नहीं सके अर्थात उसकी रहस्यमयी स्थिति के कारण उसकी पूजा प्रारंभ किया। यथा, जो कुछ भी कारण रहा हो, मनुष्य ने प्राकृतिक वस्तुओं का आदर-सत्कार या पूजा-अर्चना किया और आज भी बहुत सारे समुदाय प्रकृति को पूजते हैं। गालो समाज में भी वन-पर्वत, बड़े-बड़े वृक्ष, नदी, झील-सरोवर आदि की पूजा की जाती हैं। बीहड़ वन में जाकर आप मनमानी नहीं कर सकते। आप उसमें जाकर शोर-शराबा नहीं कर सकते, यहाँ तक कि आप बिना अनुमति के शौच नहीं जा सकते। ऐसे करने से वन की देवी (यापोम) क्रोधित हो सकती है और दण्ड दे सकती है। इसलिए गालो व्यक्ति जब भी अज्ञात क्षेत्र में जाता है तो उस क्षेत्र के मालिक/मालकिन यानी देवी/देवता से अनुमति लेकर ही शौच जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी देखा जाए तो इस तरह की मान्यताओं के पीछे कई सकारात्मक कारण छिपे होते हैं। जंगल में जाते समय वहाँ के जन-जीवन की दिनचर्या में आप खलल नहीं डाल सकते। पशु-पक्षी अपने नैसर्गिक तरीके से जीवन यापन करता है उसमें मनुष्य उसके क्षेत्र में हस्तक्षेप कर शोर-शराबा करके उनकी शान्ति में विघ्न डालता है जो कि सही नहीं है। आज मनुष्य अपने स्वार्थ के कारण प्रकृति से बहुत दूर हो गया है। प्रकृति हमारी हर जरूरतों की पूर्ति करती है पर मनुष्य के स्वार्थ की पूर्ति वे नहीं कर सकती। स्वार्थ की

कोई सीमा नहीं होती इसलिए प्रकृति के साथ सद्भावना नहीं रखते हुए उसका शोषण हो रहा है। ऐसी स्थिति में पर्यावरण संरक्षण की बात अब विश्व के सभी राष्ट्रों का चिन्ता का विषय बना हुआ है। प्रकृति के संरक्षण पर वक्तव्य देते हुए ईशा फाउंडेशन के प्रमुख सद्‌गुरु जग्गी वासुदेव का कहना है- 'बिना कीड़े-मकौड़े के धरती में जीवन समाप्त हो जाएगा, बिना पशु-पक्षियों के भी धरती में जीवन नहीं रहेगा परन्तु मानव जाति के बिना जीवन खूब फूलेगा और फलेगा।' उनका कथन बहुत हद तक सत्य है अर्थात मनुष्य के स्वार्थों के कारण धरती मर रही है। ऐसे में गालो समाज का प्रकृति के साथ जो संबंध है वह और भी अधिक प्रासंगिक हो जाता है क्योंकि गालो संस्कार में शोषण की प्रवृत्ति नहीं है। हमारे पूर्वजों ने शायद शोषण वाली प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिए ही इसे संस्कृति के साथ जोड़ा होगा।

पहले ही अवगत करा चुके हैं कि गालो किंवदंतियों और मिथकों के अनुसार संसार के सभी जीवन की उत्पत्ति एक ही माता-पिता से हुई (मदो और सिची अर्थात आकाश और धरती)। तानी समुदाय के आदि पुरुष 'आबो-तानी' का जन्म भी 'मदो और सिची' से ही हुआ। 'आबो तानी' ने अपने वंश को आगे बढ़ाने के लिए सभी तरह के प्राणियों तथा वस्तुओं के साथ विवाह किया। जैसे- 'पजक' (एक चिड़िया का नाम), मेंढक, सूखे पत्ते आदि। जब इन सब से अभीष्ट वंशज प्राप्त नहीं हुआ तो अंत में 'आनअ दोञी' (सूर्य माता) की पुत्री 'दोञी मुमसी उर्फ दोञी यायी' से विवाह किया जिससे उनको अपनी तरह शकल-सूरत वाली पुत्री प्राप्त हुई। स्त्री के अभाव में 'आबो-तानी' ने अपनी पुत्री के साथ ही सहवास कर अपनी पीढ़ी को आगे बढ़ाया। इस तरह मानव जाति का विकास हुआ। अन्य प्राणियों का विकास भी इसी तरह हुआ। गालो समुदाय में आत्मा की परिकल्पना भी की गई है। इनका विश्वास है कि हरेक जीव में आत्मा होती है। जीव की मृत्यु के बाद उसकी 'याजे-यालो' (आत्मा) उयु मोको (परलोक) चली जाती है। गालो में स्वर्ग और नरक जैसे अलग से अस्तित्त्व नहीं है। जिसकी सामान्य मृत्यु होती है उसकी आत्मा 'उयु मोको' चली जाती है परन्तु जिसकी मृत्यु अकाल या दुर्घटनावश होती है उसकी आत्मा 'ओरोम' (प्रेतात्मा) बनकर इसी जगत में रहती है। व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी आत्मा पाँचवीं रात को अपना बचे-कुचे सामान वापस लेने के लिए वापस आती है। उसके बाद वह 'उयु मोको' चली जाती है। एक बार 'उयु मोको' जाने के बाद वह वापस नहीं आती है, वही बस जाती है। इसे हम मोक्ष भी कह सकते हैं परन्तु मोक्ष में आत्मा परमात्मा में विलय हो जाती है परन्तु उयु मोको में जाने से इस तरह विलय नहीं होती; उसका अलग अस्थित्त्व बना रहता है। गालो लोग कर्म फल में भी विश्वास करते हैं जो इसी जगत में या परलोक दोनों में प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार फल मिलता है इस धारणा के कारण भी मनुष्य कुकर्म करने से डरता है। गालो में यह विश्वास किया जाता है कि हरेक प्राणी का मालिक (देवता) होता है और बिना उसकी अनुमति के किसी भी जीव की हत्या करना अपराध या पाप है। अगर किसी की हत्या करते हैं तो उसके बदले कुछ उपहार देना होता है। ऐसा नहीं करने पर उस अपराध की सज़ा भूगतना पड़ता है। इसलिए जब भी शिकार करते हैं तो 'दिगो लिन्नाम' (अनुष्ठान) करनी होती है जिसमें 'यापोम' (वन की देवी/पशु-पक्षियों का मालकिन) का क्रोध को शान्त करने के लिए वस्तु भेंट करके उन्हें संतुष्ट किया जाता है। बाघ या हाथी को मारना मनुष्य की हत्या का बराबर है इसलिए गालो में बाघ और हाथी का शिकार नहीं करते और अगर बाध्य होकर मार भी दिया तो आजीवन कुछ-कुछ नियमों का पालन (विधि निषेध) करना होता है। अन्य जीवों को मारने पर भी विधि-निषेध करना होता है। विधि-निषेध अलग-अलग जीव के लिए अलग-अलग तरह से किया जाता है परन्तु अधिकतर कम अवधि के लिए होता है। इस तरह के जीवन दर्शन के कारण गालो में शिकार मनोरंजन के लिए या व्यवसाय के लिए नहीं किया जाता। इन सब कारणों से ही गालो में अंधाधुंध शिकार या जीव हत्या नहीं होती। सदियों से इसी तरह के दर्शन के कारण ही जीवन व्यवस्थित रूप से चल रहे हैं।

सारांश के रूप में कह सकते हैं कि गालो दर्शन में बहुत अच्छे गुण है जिसे अन्य लोग भी अपना सकते हैं। इसमें समरसता और सौहार्द की भावना है। गालो व्यक्ति बहुदेववादी होने के कारण सभी धर्मों को और ईश्वरों को अपनाने में झिझकते नहीं। सभी के लिए आदर और सौहार्द का भाव रखते हैं। प्रकृति के साथ रहने के कारण, प्रकृति से जीवन पाकर प्रकृति के प्रति हमेशा कृतज्ञ रहते हैं। इसीलिए प्राकृतिक वस्तुओं को प्रतीक के रूप में पूजा करते हैं। शायद जीव-जन्तुओं के संरक्षण के लिए ही इसके मालकिन (देवी/यापोम) का परिकल्पना भी की होगी। यापोम-याजे के डर से ही सही जीव-जन्तुओं का भी संरक्षण हो जाता है। निष्कर्षत: यही कह सकते हैं कि गालो दर्शन एक उदार दर्शन है। यह सबका साथ, सबका विकास वाली नीति के लिए प्रासंगिक है।

**संदर्भ ग्रथ:**


1. दर्शन कोश, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९८८
2. गालो लोक-जीवन और संस्कृति –सिराम जुमसी
3. Myths from North East India: Functional Perspective of Galo Myths in Changing Context, Doye Ili, Nation Press, New Delhi, 2018
4. The Gallongs, Srivastava L.R.N, Director of Research, Itanagar, 1988
5. दर्शन का अर्थ – Google, १०/११/२०१८

# कबीर पर दावेदारी

**डॉ. संतोष कुमार**
शहीद भगतसिंह कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
santosh106@gmail.com

**शोध सार :**
कबीर का नित नया बनता-बदलता पाठ हिंदी आलोचना का एक रोचक अध्याय है. आलोचकों ने कबीर का नया पाठ निर्मित करने के साथ-साथ कबीर पर अपना-अपना दावा भी पेश किया है. सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के सन्दर्भ में कबीर की कविता को पढने के कारण हिंदी आलोचना ऐसे निष्कर्ष निकालती रही है. कबीर की कविता को पढ़ते हुए उसमें निहित सामाजिक-सांस्कृतिक छवियों का उद्घाटन करने से कबीर का एक अलग ही पाठ संभव होता है. इस पद्धति से पढ़ने पर कबीर किसी समुदाय विशेष तक सीमित नजर नहीं आते हैं. उनकी भक्ति का मार्ग सबके लिए खुला है बस शर्त यही है कि भक्त का मन निर्मल हो. निर्मल मन वाले लोग ईश्वर के करीब होते हैं, किसी तरह की सामुदायिक संकीर्णता में विश्वास नहीं करते हैं और मानव मात्र की सेवा में यकीन करते हैं.

**बीज शब्द :**
संवेदना, आलोचना, धर्म, कर्मकांड, शास्त्र, अध्यात्म, भागीदारी, लोकतंत्र

कबीर हिंदी के सबसे विवादस्पद कवियों में एक हैं। कबीर के पाठ को लेकर हिंदी आलोचना में खासी उत्तेजना रही है। इतनी दीर्घावधि तक चलने वाला वाद-विवाद और आरोप-प्रत्यारोप किसी दूसरे कवि के नसीब में नहीं रहा। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' से लेकरआचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ धर्मवीर और पुरुषोत्तम अग्रवाल से लेकर कमलेश वर्मा तक कबीर के दावेदारों और व्याख्याकारों की फेहरिस्त बहुत लंबी है। लेकिन ये दोनों भी अंतिम नहीं हैं। कबीर के नए दावेदार फिर मैदान में हैं। कबीर इस अर्थ में बेहद खुशनसीब हैं। ऐसा अमरत्व किसी दूसरे कवि के नसीब में कहाँ ? 'हम न मरिहै, मरिहै संसारा' वाली कबीर-उक्ति सचमुच कबीर पर चरितार्थ हो रही है। धर्म और अध्यात्म के पवित्र इलाके में जनतंत्र की मांग करने वाला आज भी हिंदी आलोचना को जनतांत्रिक होने का अवसर प्रदान कर रहा है। यह कबीर की सर्वकालिक महानता का प्रमाण है। सबके अपने अपने कबीर हैं, सबका अपना-अपना कबीर-पाठ है। इतनी दीर्घावधि तक प्रासंगिक रहने वाला, अनेक बहुरंगी पाठो की सम्भावना वाला विरला कवि-व्यक्तित्व हिंदी में तो क्या दूसरी भारतीय भाषाओं में भी न होगा।
लेकिन यही कबीर की बदनसीबी भी है. कबीर के दावेदारों ने कबीर की कविता के विविध रंगों को खोजने के बजाए उन पर अपना रंग चढ़ाना शुरू कर दिया. एक कवि की इससे बड़ी बदनसीबी और क्या होगी कि उसे कवि के अतिरिक्त कुछ और माना जाये ? उसकी कविता को पढ़ने की बजाए अन्यान्य उपकरणों और साक्ष्यों के माध्यम से उस पर अपना हक जताया जाये. कवि को पढना और उसकी कविता को पढ़ना एक ही बात नहीं होती. कबीर के आलोचक कबीर को अधिक पढ़ते हैं और उनकी कविता को कम. इसलिए कबीर हिंदी आलोचना का स्थाई आखाड़ा बने हुए हैं. इस आखाड़े में उतरने वाला हर पहलवान दूसरे को पछाड़ना चाहता है. इस उखाड़-पछाड़ की मनःस्थिति के कारण इन पहलवानों के तर्कों में पैनापन और तीखापन तो आ जाता है लेकिन कबीर- काव्य को पढने के लिए आवश्यक संवेदनशीलता स्पर्धा की आंच में सूख जाती है. कबीर के आलोचकों ने अपने मन चीता तथ्यों व तर्कों के धार पर निष्कर्ष निकाला है और उन निष्कर्षों की पुष्टि के लिए कबीर की कविता को उधृत भर किया है. कबीर के दावेदारों ने कबीर का क्या हाल बनाया है इसकी एक झलक प्रस्तुत करना आवश्यक है।

कबीर के पाठक को शुरू में ही बता दिया जाता है कि एक किंवदंती के अनुसार ,कबीर एक विधवा ब्राह्मणी की औलाद थे. कबीर पर लिखी गयी कोई भी महत्वपूर्ण किताब इस सूचना से रहित नहीं है. आधुनिकता की पैदाइश माने जाने वाले और वैज्ञानिक दृष्टि का अग्रदूत समझे जाने वाले आलोचकों ने आखिर इस अप्रमाणिक सूचना को बार-बार क्यों दुहराया ? क्या इस दुहराव से कबीर की कविता की कोई समझ बढ़ जाती है ? यदि नहीं तो यह स्पष्ट है कि यह कबीर पर दावेदारी जताने का एक चतुर प्रयास है. कबीर के मरणोपरांत हिंदुओं और मुसलमानों के कथित झगड़े के मूल में भी दावेदारी ही है. रामानंद और कबीर के आपस में गुरु-शिष्य होने अथवा न होने का असमाप्य विवाद भी दरअसल कबीर पर ब्राह्मणवादी और दलित दावेदारी का ही परिणाम है. लेकिन इस प्रसंग के आने से पहले मार्क्सवादी आलोचकों और इतिहासकारों ने भी अपनी दावेदारी पेश की और स्थापित किया कि कबीर सामंतवाद के खिलाफ उभरते पूंजीवाद की एक सांस्कृतिक आवाज हैं। उनका तर्क है कि मुगलकाल में व्यापार में उन्नति की वजह से दस्तकारों और व्यापारियों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई और वे स्वाभाविक रूप से अपने सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन और निम्न स्थितियों के खिलाफ आवाज उठाने लगे। कबीर इसी सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की पैदाइश थे। लेकिन क्या सचमुच कबीर सिर्फ दस्तकारों और व्यापारियों की ही आवाज थे ? कबीर से पहले ऐसा ही निर्गुण भक्ति आन्दोलन दक्कन में भी हो चुका था. वहां के निर्गुण भक्ति आन्दोलन में भी दस्तकार, व्यापारी और दलित संत कवियों की भरमार है. वहां तो मुग़ल शासन कभी पहुंचा ही नहीं. फिर वे कैसे पैदा हुए? दक्कन के निर्गुण आन्दोलन और उत्तर भारत के निर्गुण आन्दोलन में भी बहुत समानता पाई जाती है. इस दृष्टि से देखने पर मार्क्सवादी स्थापना समस्याग्रस्त हो जाती है. बहरहाल ! बाद में दलित आलोचना ने भी अपना दावा पेश किया. उसने कबीर को 'ब्राह्मणवादी' खेमे से निकालकर दलित खेमे में प्रतिष्ठित करना चाहा. दलित आलोचक डॉ धर्मवीर ने दावा किया कि कबीर दलित जाति के महापुरुष थे और दलितों के आजीवक धर्म के ध्वजवाहक थे। इसके प्रत्युत्तर में आलोचना की मुख्यधारा की ओर से डॉ पुरुषोत्तम अग्रवाल की आवाज आई कि कबीर किसी भी सांस्थानिक धर्म के विरोधी थे और उनकी कविता मानवमात्र की पक्षधर है। कबीर को दलित खेमे से छिनने की दूसरी कोशिश नयी-नयी शुरू हो रही ओबीसी आलोचना ने भी की और स्थापित करने का प्रयत्न किया कि कबीर ओबीसी कवि हैं।

**आधुनिकता की पैदाइश माने जाने वाले और वैज्ञानिक दृष्टि का अग्रदूत समझे जाने वाले आलोचकों ने आखिर इस अप्रमाणिक सूचना को बार-बार क्यों दुहराया ? क्या इस दुहराव से कबीर की कविता की कोई समझ बढ़ जाती है ? यदि नहीं तो यह स्पष्ट है कि यह कबीर पर दावेदारी जताने का एक चतुर प्रयास है.**

कबीर के इन दावेदारों ने कबीर पर अपना हक़ जताने के लिए खूब मगजमारी की है। तरह-तरह के स्रोतों को खोजा गया, तर्क और तथ्यों के अम्बार खड़े किये गए, आरोप -प्रत्यारोप की झड़ी लगाई गयी और बाल की खाल निकालने के नए कीर्तिमान बनाए गए. यह सब करते हुए कबीर के इन आलोचकों ने कबीर की यह सीख भूला दी कि वेद-कतेब पर भरोसा करने की अपेक्षा 'अनभैसाँचा' और 'सहजप्रेम' अधिक वरेण्य है। खैर, यह तो आलोचना-प्रविधि की ही सीमा है लेकिन यदि आलोचक कबीर की तरह ही सहज रहते तो इस अखाड़ेबाजी से बचा जा सकता था. बहरहाल ! यह यक्ष प्रश्न तो अपनी जगह मौजूद ही है कि कबीर किसकी आवाज हैं ? क्या कबीर की कविता इस प्रश्न का जवाब दे सकती है ? कबीर की संवेदना का परिवेश कैसा है ? वह किन उपकरणों से अपनी संवेदना का प्रकटीकरण करती है ? उन काव्योपकरणों के स्रोत क्या हैं ? अर्थात कविता के बिम्बों, प्रतीकों, रूपको और उपमाओं में छुपे हुए सामाजिक चित्रों और जीवन के चिन्हों की परख व पड़ताल की जाये तो हम इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं कि कबीर किसकी आवाज हैं ? तो आइए पहचान करते हैं उन चित्रों व विवरणों की जो कविता की गोद में छुपकर बैठे हैं.

कबीर के बारे में सामान्य धारणा यह है कि वे नगर के कवि हैं. लेकिन उनकी कविता इस धारणा को ध्वस्त करती है. कबीर की कविता में खेती- किसानी और पशुपालन के विवरण इतने अधिक हैं कि उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे गांव से न सिर्फ परिचित थे बल्कि उसमें रचे बसे भी थे. कुछ उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया जा सकता है: सूप ज्यूँ त्यागे फट की असार, चौड़े मड़या खेत, तउन छाड़े खेत, पाँहड़ उपरि मेह, गंगतीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहाना, जतन बिन मृगनिखेत उजारे, कबीर खेती किसानका, खेत बिचारा क्या करे, खेत बिराना खाई आदि वे विवरण हैं जो कबीर की संवेदना की अभिव्यक्ति के साधन

बनते हैं. इसी तरह उनकी कविता में पशुपालन के भी अनेक विवरण छुपे हैं. उदाहरण के लिए : कबीर यह जग अंधला जैसी अंधी गाई, बछड़ा था सो मर गया उमी चाम चटाई, पञ्चबरन दस दुहिए गाई, एक दूध देखो पति आइ , एक दहिड़िया दही जमायो , बैल बियाई गायी भई बाँझ, बछड़ा दुहेती नो साँझ, मूड मुड़ाई जो सिद्धि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुंची कोई , जो ब्यावे तो दूध न देई आदि विवरण पशुपालन से कबीर के घनिष्ट परिचय और प्रेम की ओर संकेत करते हैं. खेती और पशुपालन अलग-अलग नहीं किये जा सकते। दोनों कृषि-अर्थव्यवस्था और कृषि-संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। कृषि की आर्थिकी में खेती और पशुपालन एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बगैर दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है। अब मशीनीकरण के कारण स्थिति भले ही बदल गयी है। कबीर की कविता में इस कृषि संस्कृति से आने वाले दर्जनों विवरण यह स्पष्ट करते हैं कि उन्हें सिर्फ नगर का कवि अथवा सिर्फ व्यापारियों व दस्तकारों की आवाज कहकर सीमित नहीं किया जा सकता। बनारस में पैदा होने मात्र से कोई नगर का प्रतिनिधि नहीं हो जाता। कृषि सभ्यता से चुने गए काव्योपकरण कबीर के गांव से रिश्ते की गहराई को स्पष्ट रूप से रेखांकित करते हैं।

कबीर का ऐसा ही गहरा रिश्ता दस्तकारी और व्यापार से भी है. दस्तकारी और व्यापारी जीवन से जुड़े विवरणों, बिम्बों और रूपकों से कबीर की कविता भरी पड़ी है. इन कविताओं में एक दूसरे ही कबीर सामने आते हैं. इन कविताओं में कबीर का दस्तकारी से गहरा लगाव सामने आता है. ये कविताएं प्रेम, लगाव और मार्मिकता से भरी पड़ी हैं. पाका कलश कुम्हार का, नौ मन सूत उलिझिया, तम्बोली के पान ज्यों, खेवटिया के नाव ज्यों, मालन आवत देख करि कलियाँ करे पुकार, मति बसि पड़ो लुहार के, कुम्भरा एक कमाई माटी, सांई मेरा बणिया, सहज करे व्योपार, बिन दांडी बिन पालड़ो तोले सब संसार, कबीर पूंजी साह की, तू जिनि खोवे ख्वार आदि कुछ उदहारण हैं जो दस्तकारी और व्यापारी जीवन से कबीर के प्रगाढ़ सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं।

कृषि, पशुपालन और दस्तकारी से अपनी अभिव्यक्ति के साधन चुनने वाली कविताएं कबीर की दूसरी कविताओं से बिल्कुल अलग हैं. इन कविताओं का मिजाज प्रश्नवाचक नहीं है. नही इनमें कहीं चुनौती देने की मुद्रा है. ये कवितायेँ बेहद आत्मीयता और सहजता से लिखी गयी हैं। इन कविताओं में कबीर बहुत भाव प्रवणता और प्रगल्भता से हरि और भक्त के सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। वे बार-बार अपने आध्यात्मिक मन्तब्य को इन कृषि सभ्यता से जुड़े भौतिक उपकरणों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। इन कविताओं में प्रेम और आत्मीयता के छलकते भाव एक दूसरे ही कबीर को हमारे सामने लाते हैं। वे बहुत विह्वलता से अपने और हरि के सम्बन्ध को बताते हैं। इस प्रेम में सहजता और स्वाभाविकता को महसूस किया जा सकता है। इस प्रेम की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें दासत्व की भावना नहीं है। यह बराबरी वाला प्रेम है। यदि कबीर एक ओर यह कहते हैं कि :

*कबीर कुत्ता राम का , मुतिया मेरा नाउँ*
*गलेराम की जेवड़ी, जितखीं चेतित जाऊं*

तो दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि :

*कबीर मन निर्मल भया,जैसे गंगा नीर*
*पाछे लागे हरि फिरै,कहत कबीर कबीर*

हरि और कबीर दोनों एक दूसरे के पीछे हैं क्योंकि आग दोनों तरफ बराबर लगी है। बस शर्त यही है कि वह सच्चा और सहज हो। वह सच्चा और सहज तभी होगा जब मन निर्मल होगा. निर्मल मन ही ईश्वर का गेह है. ऐसा प्रेम मालिक व दास के बीच नहीं होता। राजा और प्रजा के बीच नहीं होता। यह तो बराबरी वाला प्रेम है जो प्रेमी और प्रेमिका के बीच होता है। अकारण नहीं है कि कबीर अपनी ईश्वर भक्ति को बार-बार पति-पत्नी और प्रेमी-प्रेमिका के रूपक और उपमा के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं।

वही कबीर के दुश्मन हैं जो इस प्रेम के बीच में आना चाहते हैं. चाहे वे पण्डे और मौलवी हों, वेद और कितेब हों, मंदिर और मस्जिद हों अथवा इन सबसे अस्तित्व पाने वाला तथा इन सबका पोषण करने वाला धर्मशास्त्र और कर्मकांड हो. कबीर हरि और हरिजन के बीच दलाली और मध्यस्थता की पूरी संरचना के खिलाफ हैं. वह संरचना जो धार्मिक और सामाजिक जीवन में मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद करती है. कुछ मनुष्यों में श्रेष्ठता और कुछ में हीनता का भाव भरती है. कबीर ऐसी व्यवस्था और इस व्यवस्था के पोषको को चुन-चुनकर सुनाते हैं. यहाँ कबीर बेहद आक्रामक और तेजस्वी रूप में सामने आते हैं. वे इस मध्यस्थता की संरचना के पोषकों के सामने तन कर खड़े होते हैं और अपने प्रश्नों के माध्यम से चुनौती पेश करते हैं. ये कविताएं स्पष्ट रूप से बतलाती हैं कि कबीर में किसी तरह की चतुराई अथवा छिपाव नहीं है. वे सीधे अपने दुश्मन को संबोधित करते है:

*पाड़े वाद वदन्ते झूठा, पोथी पढ़ी-पढ़ीजगमुआ,*
*कबीर पढ़ि बा दूरकरि, पुस्तक देइ बहाई,*
*मुंड मुडावत दिन गए, अजहुँन मिलियाराम*

आदि उदाहरणों को इस प्रसंग में देखा जा सकता है. इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए की हरि और हरिजन के बीच मध्यस्थता करने वाली इस पूरी संरचना से पीड़ित कौन था ? क्या ये वही लोग नहीं थे जिनके जीवन और पेशे के विवरणो के माध्यम से कबीर अपनी कविता को रूपायित करते हैं. किसान, पशुपालक, दस्तकार और व्यापारी ही वे लोग हैं जिन्हें मध्यस्थता की इस शोषक संरचना ने धार्मिक और सामाजिक रूप से निकृष्ट और अपवित्र घोषित कर रखा था. यही वे लोग थे जो खान-पान और रहन-सहन की दृष्टि से भेदभाव के शिकार थे. कबीर जब इस भेदभाव और श्रेष्ठता-

निकृष्टता को पोषित करने वाली सामाजिक संरचना के खिलाफ तनकर खड़े होते हैं, उसे चुनौती पेश करते हैं और अपने तर्कों से पाड़े व मौलवी की ज्ञानसत्ता को ध्वस्त करते हैं तो दरअसल वे धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में इन किसानों, पशुपालकों, दस्तकारो आदि की आवाज बुलंद कर रहे होते है. वे धर्म और अध्यात्म के 'पवित्र' इलाके में इन 'अपवित्रो' की भागीदारी सुनिश्चत कर रहे होते हैं. इस अर्थ में कबीर की भक्ति दरअसल भागीदारी का घोषणापत्र है. यहाँ यह भी ध्यान देना होगा की कबीर ऐसे लोगो में नहीं थे जो सिर्फ प्रतिक्रिया करते रहते हो अथवा आरोप-प्रत्यारोप लगाते रहते हों। कबीर एजेंडा-सेटर थे। वे सिर्फ वेद-कितेब, पांडे-मौलवी, मंदिर-मस्जिद और कर्म कांड को ख़ारिज ही नहीं करते है बल्कि इनका विकल्प भी सुझाते है। वे बहुत स्पष्ट रूप से कहते है की हरि से सहज प्रेम ही भक्ति की एकमात्र शर्त है। इसके लिए और किसी दूसरी योग्यता अथवा अर्हता की जरुरत नहीं है- न जन्म की, न शास्त्र-ज्ञान की और नहीं कर्मकांड की। सिर्फ और सिर्फ राम से प्रेम करने की एकमात्र अर्हता ने भक्ति और आध्यात्म के क्षेत्र में वंचितो के प्रवेश का मार्ग खोल दिया। संत परंपरा में वंचित समूहों के संतो की इतनी अधिक संख्या इसका प्रणाम है। बदले में इन वंचित तथा निकृष्ट समझे जाने वाले समुदायों ने भी कबीर की वाणी को अपना कंठाहार बनाया। किसान और दस्तकार जैसे वंचित समुदायों के बीच कबीर की लोकप्रियता इस दोतरफ़ा प्रेम का अकाट्य प्रमाण है। इन समुदायों के जीवन से चुने गए काव्योपकरण, इनसे सम्बंधित कविताओ में व्यक़्त आत्मीयता, इन कविताओं का प्रेम-रस-सिक्तमन-मिजाज और इनमें निहित वंचितो की भागीदारी की न्यापूर्ण लड़ाई यह साबित करते है की कबीर की कविता कृषि, पशुपालन और दस्तकारी करने वाले वंचित समुदायों की आवाज है। लेकिन कबीर वंचना का उत्तर प्रति वंचना से नहीं देते हैं. उनके भक्ति मार्ग में किसी भी व्यक्ति के प्रवेश का निषेध नहीं है. उनकी भक्ति सिर्फ वंचित समुदाय तक ही सीमित नहीं है. उनके बताए भक्ति मार्ग पर निर्मल मन वाले हर भक्त का स्वागत है।

## सन्दर्भ :


1. डॉ.धर्मवीर (2000). *कबीर और रामानंद : किवदंतियां*. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

2. अग्रवाल, डॉ पुरुषोत्तम.(2016). *अकथ कहानी प्रेम की कबीर की कविता और उनका समय*. नयी दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. नयी दिल्ली.

3. डॉ.धर्मवीर. (2013). *कबीर : खसम ख़ुशी क्यों होय ?*. नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

4. डॉ.धर्मवीर. (1997). *कबीर के आलोचक*. नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन. नयी दिल्ली.

5. वर्मा, कमलेश(2017). *जाति के प्रश्न पर कबीर*. द मार्जिनलाइज्ड प्रकाशन. इग्नू रोड दिल्ली.

6. दास, श्यामसुंदर (2012). *कबीर ग्रंथावली*. (सं.). नयी दिल्ली: प्रकाशन संस्थान. नयी दिल्ली.


# राष्ट्रभाषा

प्रचलित मान्यता के विरुद्ध, हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है, यद्यपि राष्ट्रभाषा के विषय में भारतीय संविधान में कुछ भी नहीं कहा गया है, ना ही संविधान में इसका कोई प्रावधान मिलता है। अपितु, स्वतंत्रता आंदोलन और स्वतंत्रता के पश्चात, हिंदी भाषा की बड़ी जनसँख्या को देखते हुए, तथा प्रशासनिक सरलता हेतु हिंदी को भारत की "राष्ट्रभाषा" के रूप में मान्यता प्रदान करने का विचार भी किया गया, एवं इसकी मांग भी उठी। परंतु भारत की भाषाई विविधता में केवल एक भाषा की बड़ी जनसंख्या के आधार पर ऊँचा स्थान देने को असंवैधानिक और अनुचित माना गया एवं इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया गया। वर्तमान में हिंदी भाषा संविधान की ८ वीं अनुसूची में अंकित २२ मान्य भाषाओं में से एक है।

हिंदी को राष्ट्रभाषा कहने के एक हिमायती महात्मा गांधी भी थे, जिन्होंने २९ मार्च १९१८ को इंदौर में आठवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। उस समय उन्होंने अपने सार्वजनिक उद्बोधन में पहली बार आह्वान किया था कि हिन्दी को ही भारत की राष्ट्रभाषा का दर्जा मिलना चाहिये। उन्होने यह भी कहा था कि राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है। [28] उन्होने तो यहाँ तक कहा था कि हिन्दी भाषा का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है। आजाद हिन्द फौज का राष्ट्रगान 'शुभ सुख चैन' भी "हिंदुस्तानी" में था। उनका अभियान गीत 'कदम कदम बढ़ाए जा' भी इसी भाषा में था, परंतु सुभाष चंद्र बोस हिंदुस्तानी भाषा के संस्कृतकरण के पक्षधर नहीं थे, अतः शुभ सुख चैन को जनगणमन के ही धुन पर, बिना कठिन संस्कृत शब्दावली के बनाया गया था।

# राजस्थान का लोक साहित्य : एक सांस्कृतिक विश्लेषण

**डा. कमला चौधरी**
सहायक आचार्य, (हिन्दी)
जयनारायणव्यास विश्वविद्यालय

रंगीले राजस्थान के कई रंग है। कहीं रेगिस्तानी बालू पसरी हुई है तो कहीं अरावली की पर्वत-श्रृंखलाएं अपना सिर ऊँचा करके खड़ी हुई हैं। इस प्रदेश में शौर्य और बलिदान ही नहीं, साहित्य और कला की भी अजस्र धारा बहती है। चित्रकलाओं ने भी मानव की चिंतन शैली को विकसित व प्रभावित किया है। लोक-साहित्य एवं संस्कृति के लिहाज से राजस्थान समृद्ध प्रदेश है। राजस्थान में साहित्य, संस्कृति, कला की त्रिवेणी बहती है, जीवन कठिन होने के कारण इन कलाओं ने मानव को जिंदगी से लड़ने का हौसला दिया है। यहीं पर महाराणा प्रताप हुए, संत कवयित्री मीरा, कलाप्रेमी कंुभा, चतरसिंह जी बावजी, भृतहरि, बिहारी और अन्य सैकड़ों नाम हैं।

भौगोलिक स्थिति का भी संस्कृति पर प्रभाव पड़ता है। प्राचीन प्रस्तर युग से चलकर सभ्यता-संस्कृति आज के दौर में पहुँची है। यहाँ की आयड नदी की सभ्यता भी बहुत प्राचीन है। गणगौर, तीज, होली, दशहरा, दीवाली, मेले-ठेले, कुश्ती दंगल, शौर्य-पराक्रम सब इसी धरती पर है। यहाँ की रंग-बिरंगी पोशाकें आज भी धूम मचा रही हैं। आभूषण, केश-विन्यास, भोजन, भजन सब अनोखा है। यहाँ साहित्य में संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, बागड़ी, मेवाड़ी, ब्रज, हाड़ौती, ढूढ़ाणी सभी भाषाओं में विपुल साहित्य है।

'लोक' का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है- दिखाई पड़ना अथवा गोचर होना, अर्थात् सारा संसार जो इंद्रिय-गोचर है अथवा सामने है, वह सभी लोक है। लोक साहित्य का अपना ही मुहावरा है। वह भद्रलोक के साहित्य की तरह व्याकरण सम्मत नहीं होता है। कहने का आशय यह है कि वह नियमों के दायरे में बंधा नहीं होता। स्वातंत्र्य उसका प्राण है। लोक साहित्य की बात आते ही लोक भाषाओं या देशज बोलियों में विद्यमान साहित्य हमारे समक्ष उठ खड़ा होता है। इस साहित्य की प्रकृति सामुदायिक है। यह होठों पर विराजने वाली सत्ता है और इसलिए इसका बड़ा हिस्सा प्रायः पद्यात्मक है क्योंकि यह श्रुत परम्परा के अनुकूल है। हिन्दी आलोचना के कीर्ति स्तम्भ नामवर सिंह ने इसे जनता के लिए जनता द्वारा ही रचित माना है। यह देशज भाषाओं या आंचलिक बोलियों में रचा-बसा होता है और उन्हीं की तरह अनगढ़ - उन्मुक्त भी, बिल्कुल 'भाखा बहता नीर' की तरह स्वच्छंद।

राजस्थानी साहित्य की सम्पन्नता में लोक साहित्य की भूमिका अविस्मरणीय है। यह यहाँ की भाषा का अपनापन ही है जो इस बोली के रचाव को वैश्विक पहचान दिलाने का सामर्थ्य रखती है। नाथ साहित्य, रासो साहित्य और संत साहित्य में तो हम इस साहित्य की पावनता के दर्शन पाते ही हैं परन्तु साथ ही आधुनिक काल में भी इस साहित्य में ऐसे हस्ताक्षर हैं जिनके रचनाक्रम से यह साहित्य हमारी संस्कृति और परम्परा को सहेजे हुए हैं। लोक साहित्य के अर्थ पर ही अगर हम इस लेख के प्रारम्भ में बात करें तो सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य कोशकार की टिप्पणी याद आती है- ''वास्तव में लोक साहित्य वह मौलिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक समूह अपना ही मानता है और जिसमें लोक की युग-युगीन वाणी साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिम्बित रहता है। इसके कारण जिस किसी भी शब्द में रचना चैतन्य नहीं मिलता, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक लहजा, प्रत्येक लय सहज ही लोक का अपना है और उसके लिए अत्यन्त सहज और स्वाभाविक

है।"[1] राजस्थानी लोक साहित्य भी अन्य लोक साहित्य की तरह ही राजस्थान के सामाजिक-सांस्कृतिक और भौगोलिक साहित्य का मौखिक दस्तावेज है। शायद लोक साहित्य की इसी विशेषता को देखते हुए वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस बारे में कहा है कि "लोक साहित्य की एक विधा लोक गीत किसी संस्कृति के मुँह बोलते चित्र हैं।"[2] इस प्रकार राजस्थान की इस समृद्ध और बोलती साहित्यिक विरासत के प्रमुख रूप से दो पक्ष हैं- प्रथम लोक साहित्य तथा द्वितीय लोक कला।

पूर्व मध्ययुग में अपभ्रंश भाषा के विकास एवं प्रभाव के कारण इसमें भी साहित्य का सृजन हुआ। इसी के साथ डिंगल व पिंगल में भी साहित्य रचना हुई। वीर गाथाकाल की अनेक रचनाओं पर इस भाषा का प्रभाव है। इस काल के विस्तृत साहित्य को देखते हुए ही राजस्थान को भारत वर्ष की वीर भूमि माना जाना है। इसी क्रम में सुप्रसिद्ध इतिहासकार जेम्स टॉड ने लिखा है- "राजस्थान में एक भी छोटी रिसासत ऐसी नहीं है जिसमें थर्मोपोली जैसी युद्ध भूमि न हो और कदाचित् ही ऐसा कोई नगर है जिसने लियोनिडास जैसा योद्धा उत्पन्न न किया हो।"[3] यह तो हुई डिंगल में रचित साहित्य की बात परन्तु भाषा वैज्ञानिकों की माने तो राजस्थान की प्रमुख भाषा मरू भाषा है। मरूभाषा को ही मरूवाणी तथा मारवाड़ी कहते हैं।

राजस्थान के लोक साहित्य में भी सुसंस्कृत साहित्य की ही भाँति 'लोक साहित्य' की विभिन्न विधाएं हैं । इससे यहाँ के लोक साहित्य की व्यापकता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। डा. कृष्ण देव उपाध्याय ने यह वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है-"1. लोकगीत, 2. लोक कथा, 3. लोककला 4. लोक-नाट्य, 5. प्रकीर्ण साहित्य"[4]

इस वर्गीकरण को देखते हुए राजस्थान का साहित्य लोक गीत, लोक कथाएँ, लोक नाट्य, पहेलियाँ, प्रेम कथाएँ और फड़ों में लिखा हुआ मिलता है। साथ ही लोक कलाओं रम्मत, ख्याल, भवाई, गवरी, गेर आदि लोक नाट्यों में धर्म, नैतिकता, मनोरंजन व व्यावहारिकता को इस प्रकार संजोया जाता है कि लोक जीवन का सच्चा स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसी तरह लोक नृत्यों में गरबों व घूमर की धूम है। यहाँ के लोक गीत तो संगीत के क्षेत्र में अनमोल हैं ही इनके रचयिता का कहीं पता नहीं है परन्तु ये मौखिक परम्परा और अनुश्रुति पर आधारित हैं। इनमें मानव समाज की विशुद्ध मनोवृत्तियाँ और भावनाएँ समयोचित प्रसंगों पर हर्ष-विवाद, प्रेम-ईर्ष्या, उल्लास-भक्ति आदि प्रकट होती है।

राजस्थानी लोक गाथाओं को वीर कथात्मक, प्रेम कथात्मक एवं रोमांचकारी लोक गाथाओं की श्रेणी में बाँटा जा सकता है। इनकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए डा. रामकुमार वर्मा लिखते हैं- "लोक गाथाओं में जीवन की स्वाभाविक प्रेरणाएँ हैं, जो प्रकृति के प्रशान्त वातावरण में निर्झर की भाँति उमड़ पड़ती है। हृदय की ईश्वरीय विभूतियाँ अपने सहज आलोक सौन्दर्य से दिव्य आलोक विकीर्ण करती हुई अभिव्यक्ति में सहायक हुई है। इनमें सहज सहानुभूति है, स्वस्थ संवेदना और प्राकृतिक वातावरण की सहायता से सशक्त वैभव है, इनमें बुद्धि वैभव भले ही न हो, तथापि इनमें भावना की ऐसी विभूति है कि वह जीवन के भीषण वनों को तपोवन में परिणत कर देती है।"[5] वस्तुतः यह बात केवल लोक गाथाओं पर ही नहीं वरन् अन्य लोक विधाओं पर भी सही बैठती है। इस सहजानुभूति ने इस मरू प्रदेश में बातों की फुलवारियाँ खिला दी है। यहाँ ही ढोला मारू रा दूहा लिखा गया है तो यहीं बीसलदेव रासो व परमाल रासो तथा साथ ही बातां री फुलवारी जैसे रोचक साहित्य की रचना भी हुई है। यहाँ धोरों की धरती पर ऐसे-ऐसे साहित्यकार हुए हैं जिन्होंने छोटे से गाँव में बैठकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर के साहित्य का सृजन किया है। लोक साहित्य की अन्य विधाओं की ही भाँति लोक कथा का रूप भी प्रायः मौखिक ही रहा है। डा.वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में - "मानव के सुख-दुख, प्रीति-श्रृंगार वीरभाव और बैर इन सबने खाद बनकर, लोक कथाओं को पुष्ट किया है। रहन-सहन, रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास, पूजा-उपासना आदि सबसे कहानी का ठाठ बनता और बिगड़ता रहता है। मन के आयास को हटाने के लिए कहानी मानव समाज का प्राचीन रसायन है।"[6] राजस्थानी लोक साहित्य की मौखिक परम्परा तो है ही कई सुधी लेखकों, साहित्यकारों ने इसके जीवन मूल्यों व दर्शन को सहेजने का स्तुत्य प्रयास भी किया है। इस संदर्भ में अगर पद्य की बात की जाए तो लोक साहित्य को परम्परागत व आधुनिक दो भागों में विभेदीकृत कर सकते हैं। परम्परागत कविता को थाथी के रूप में सहेजने वाले लेखकों में स्वरूपदास (हृदयरंजन वृत्ति बोध, पाखंड, खंडन), रामनाथ कविया (पाबूजी रा सोरठा, करूणा बावनी), रायसिंह सांदू (मोतिया रा सोरठा), राव बख्तावर (केहर प्रकाश, अन्योक्ति प्रकाश) प्रताप कुंवर बाई (रामजस पच्चीसी, पद हरजस), गणेशपुरी (वीर विनोद), मुरारिदान (वंश भास्कर को पूर्ण किया, डिंगल कोश व वंश समुच्चय ग्रंथ), मुरारिदान आशिया, बालाबरबस बारहठ, केसरीसिंह बारहठ, उदयराज उज्ज्वल, नाथूसिंह महियारिया आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त हनुमंत सिंह देवड़ा, शक्तिदान कविया, कन्हैयालाल सेठिया भी लोक सृजन में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं।

इसी क्रम में अगर साहित्यिक कविता की बात की जाए तो वहाँ कृत्रिम रंगों का अंश अधिक होता है इसकी तुलना में लोक कविता अपने उषा काल से ही अपने नैसर्गिक रूप में हमारे बीच उपस्थित है। लोक साहित्य की अनेक रचनाओं के ना तो रचनाकाल का पता है ना ही उसके रचयिता का परन्तु इन सभी रचनाओं में अंचल विशेष की माटी की सौंधी गंध है। अगर आधुनिक राजस्थानी कथा साहित्य में लोक तत्व की बात की जाए तो विजयदान देथा, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, अर्जुनदेव चारण, सी. पी. देवल और नंद भारद्वाज ने इस रसायन का भलीभाँति प्रयोग किया है। विजयदान देथा तो

भारतीय साहित्य के गौरवशाली रचनाकारों में शुमार हैं। उनकी कहानियों में लोक की गहरी समझ, वैचारिकी और संवेदनात्मक स्पर्श है । राजस्थानी लोक कथाओं की अद्भुत शैली को अपनी कहानियों में उतारने वाले बिज्जी ने कहानियों के लिए अनेक विषय चुने। जानवरों, भूतों, मूर्ख राजाओं, समझदार राजकुमारियों, चपल बालिकाओं, जैसे चरित्रों को लेकर देथा ने 800 से अधिक कथाएँ लिखी। इस प्रकार उन्होंने अपने शब्दों से लोक साहित्य की समृद्ध परम्परा को न केवल पुनर्जीवित किया वरन् अपनी कथा शैली से उसे रोचकता भी प्रदान की। वे लोक कथाओं के कई गुणों को अपने लेखन में हुबहू उतारते हैं।

बिज्जी और चन्द्र के लेखन में अनुभवों का भण्डार है और सीधी, सरल भावनाएँ हैं। लोक साहित्य का सृजन करने वाले इन चितेरों ने दरअसल लोक साहित्य को केवल एक परम्परा और धरोहर तक ही सीमित नहीं रहने दिया वरन् उसे अपने सृजन में उतारा और एक प्रगतिशील ग्रामीण साहित्यकार बनकर उसे साहित्य की प्रगतिशील धारा में लाने का प्रयास किया। इन सभी संदर्भों में बिज्जी अनूठे हैं उनका सृजन विशेष है | उनके साथ ही राजस्थान में अनेक ऐसे लेखक हुए हैं जिन्होंने अपनी जड़ों से न केवल जुड़ाव ही रखा वरन् उसके फलने फूलने और विकास के लिए भी भरसक प्रयास किए। राजस्थान की इस अलबेली लोक संस्कृति की छटा अब राष्ट्रीय व वैश्विक पटल पर भी दिखाई दे रही है। प्रसिद्ध फिल्मकार अमोल पालेकर ने 'पहेली', प्रकाश झा ने 'परिणीता' और मणिकौल ने 'दुविधा' फिल्में बनाई जो सफल और मनोरंजक फिल्मों की अग्रिम पंक्ति में रखी जा सकती है। इसी के साथ बिज्जी का 'चरणदास चोर' नाटक जो हबीब तनवीर ने निर्देशित किया है, भारत के साथ-साथ अनेक देशों में उसका मंचन हो रहा है।

लोक कहावतें लोक साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है और इस दृष्टि से भी राजस्थान का लोक साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। मरू लोक ने अपने दैनिक प्रयोगों के आधार पर अनेक कहावतों का सृजन किया।

उदाहरण के तौर पर किसानी कहावत है "आभा राता मेह माता" अर्थात् आकाश रक्तवर्णी है और बरखा की संभावना है और "आभा पीला मेह सीला" अर्थात् आसमान पीला हो गया है। समझो बरखा गई इस प्रकार अनुभवी आँखें बादलों के रंगों से ही वृष्टि और अनावृष्टि की सम्भावनाएँ पता लगा लेती थी।" लोक भाषाओं में कृषकों द्वारा कथित ऐसी अनेक कहावतें और उक्तियाँ उपलब्ध हैं, जो आज वैज्ञानिक विश्लेषण की कसौटी पर जाकर परखी जानी चाहिए।"[7] बारहवीं शताब्दी के ढोला मारू रा दूहा काव्य में भी प्रकृति के सूचक तत्वों को अभिव्यक्त करते हुए अनेक उल्लेख मिलते है:-

*अनमियउ उत्तर दिसाइँ काली कंठलि मोह*
*हूँ भीजूँ घर आंगणियइ पिउ भींजई परदेह*
*काली कंठलि बादलि, बरसिज मेल्हइ बाउ*[8]

राजस्थान रा दूहा, ढोला मारू रा दूहा, राजस्थान हिन्दी कहावत कोश आदि कृतियों में ऐसे ना जाने कितने उदाहरण बिखरे पड़े हैं जहाँ प्रकृति की नियमावली है, सामाजिक मर्यादाओं के वृत्त हैं, टीसती हुई सच्चाइयाँ हैं और अतीत का समूचा परिवेश है जो आज भी स्पंदित होता हुआ दीख पड़ता है। लोक साहित्य की परम्परा का अनुशीलन करता हुआ जो साहित्य अब रचा जा रहा है वह अनेक मोर्चा पर एक साथ लड़ता हुआ नजर आता है। अगर इस साहित्य की सौंधी महक को घर-घर में पहुँचाना है तो इसके लिए अनेक प्रयास करने होंगे। इन्हें साहित्यिक अध्ययन का विषय बनाना होगा और इनका मूल्यांकन आधुनिक साहित्य के तय मापदंडों से करने से बचना होगा। वस्तुतः परिष्कृत साहित्य को जिन सिद्धान्तों से मूल्यांकित किया जाता है उन्हीं सिद्धान्तों को लोक साहित्य के अध्ययन का आधार नहीं बनाया जा सकता क्योंकि जो मंजे हुए और साधारणीकृत आधार हमारे पास हैं वे हमारी औपचारिक भाषा और अनुशासित साहित्य के निकष हैं इसके विपरीत लोक साहित्य का अपना निजी अनुशासन है। साथ ही लोक नाट्य जो लोक साहित्य व संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं उनके क्षेत्रीय महत्त्व को जानना होगा और उन्हें संरक्षण प्रदान करना होगा। उन्हें मंचन के अधिकाधिक अवसर प्रदान करने होंगे।

निष्कर्ष:-

राजस्थानी लोक साहित्य एवं संस्कृति का यहाँ विहंगावलोकन प्रस्तुत किया है। लोक-संस्कृति के तत्वों की विविधता और गहनता इतनी अधिक है कि एक स्थल पर संक्षेप में उन्हें समेट पाना संभव नहीं। लोक-संस्कृति को बाजार एवं भूमण्डलीकरण ने दबोच लिया है, उसे आवृत्त करने की चेष्टाएँ जारी हैं। संस्कृति मानव-मात्र की पहचान होती है, जिनकी निर्मिती सदियों में होती है। सुविचारित, सुदीर्घ परम्परा को वैश्वीकरण के मोह में त्याग देना बुद्धिमत्ता नहीं है। साथ ही समय का यह विचित्र सत्य है कि 'लोक', वस्त्रों, आभूषणों, ड्राइंग-रूमों में 'प्रदर्शन प्रियता' के साथ पैठ बना चुका है। यह आधुनिकता की नई परिभाषा है, जिससे लोक आख्याता विद्यानिवास मिश्र को भी घोर आपत्ति थी। फैशन के तौर पर मात्र दिखावे के लिए 'लोक' को अपनाना व्यर्थ है, ठीक आत्मा-रहित देह की भाँति। वर्तमान युग में मानवीय व्यवहार आत्मकेन्द्रित व व्यावसायिक हुआ है। सामाजिक रिश्तों में सामूहिकता का क्षरण हुआ है, जिसने कहीं न कहीं हमारे सांस्कृतिक परिवेश को गहरे तक झिंझोड़ा है।

इसके बावजूद कुछ लोग, सांस्कृतिक समूह, संगठन और मशाल लेकर चलने वाले लोग एक टिमटिमाते दीये की भाँति संस्कृति की राह को उजाला बनाए हुए है। उनमें अपनी जड़ों से जुड़े रहने का जुनून है। सांस्कृतिक विरासत को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का संकल्प है जिनके बूते संस्कृति

की अविरल धारा मंथर गति से ही सही, आगे बढ़ रही है, जो एक नई उम्मीद जगाती है। आने वाले समय में आज के कालखंड की भी ऐसे ही ऐतिहासिक कालों में गणना होगी और आने वाली सदियों में भी हम कवि इकबाल के भाव को जीते रहेंगे।

*कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,*
*सदियों रहा है दुश्मन दौर-ए-जमाँ हमारा।*
*बस, लोक-जीवन को बचाए रखना है।*

### संदर्भ ग्रंथ सूची:-


1. हिन्दी साहित्य कोश.(2020)भाग-1(सं.). वाराणसी:ज्ञान मंडल प्रकाशन.पृ. 753
2. डा. मधुलता, श्रीवास्तव.(नवम्बर.1951). आजकल. लेख-अवध के लोकगीत उनका शिल्प सौन्दर्य.पृ. 17
3. क्रुक, विलियम. एनाल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आफ राजस्थान. (1920).(सं) भाग-2, हिन्दी संस्करण. जयपुर : मंगल प्रकाशन.
4. गिलडा, डा. वेद प्रकाश. कबीर पंथ पर पंथेवर प्रभाव. मेरठ : 'शैवाल' प्रकाशक अनु. बुक्स.पृ. 165
5. वर्मा, डा. रामकुमार. साहित्य शास्त्र.पृ. 102
6. अग्रवाल, डा. वासुदेव. (1954). लोक कथाएँ और उनका संग्रह लेखक. पृ. 9
7. परमार, श्याम. लोक साहित्य विमर्श. अजमेर : कृष्णा ब्रदर्स. पृ. 28
8. ढोला मारू रा दूहा. नागरी प्रचारिणी सभा. दोहा क्रम, 43.पृ. 267

## पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी

**पूर्वोत्तर एक अहिन्दी भाषी क्षेत्र है। यहाँ हजारों वर्षों से असमीया भाषा संपर्क भाषा रही है। यहाँ असमीया के साथ ही बंगला, नेपाली, मणिपुरी, अंग्रेजी, खासी, गारो, निशी, आदि, मोनपा, वांग्चु, नागामीज, मिजो, काॅकबराक, लेप्चा, भुटिया और गिनते-गिनते इन आठ राज्यों में प्रायः 200 विभिन्न भाषायें एवं बोलियां प्रचलित हैं। अधिकांश भाषा एवं बोलियां तिब्बत-बर्मी परिवार की होने के कारण अलग से पहचानी जाती हैं। विविधताओं के कारण इस अंचल को 'भाषाओं की प्रयोगशाला' कहा जाता है।**

**पूर्वोत्तर भारत में अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं। जिनकी अपनी-अपनी भाषाएँ तथा बोलियां हैं। इनमें बोड़ो, कछारी, जयंतिया, कोच, त्रिपुरी, गारो, राभा, देउरी, दिमासा, रियांग, लालुंग, नागा, मिजो, त्रिपुरी, जामातिया, खासी, कार्बी, मिसिंग, निशी, आदी, आपातानी, इत्यादि प्रमुख हैं। पूर्वोत्तर की भाषाओं में से केवल असमिया, बोड़ो और मणिपुरी को भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में स्थान मिला है। सभी राज्यों में हिन्दी भाषा का प्रयोग अधिकांश प्रवासी हिन्दी भाषियों द्वारा आपस में किया जाता है।**

**पूर्वोत्तर में हिन्दी का औपचारिक रूप से प्रवेश वर्ष 1934 में हुआ, जब महात्मा गांधी 'अखिल भारतीय हरिजन सभा' की स्थापना हेतु असम आये। उस समय गड़मूड़ (माजुली) के सत्राधिकार (वैष्णव धर्मगुरू) एवं स्वतंत्रता सेनानी श्री श्री पीताम्बर देव गोस्वामी के आग्रह पर गांधी जी संतुष्ट होकर 'बाबा राघव दास जी' को हिन्दी प्रचारक के रूप में असम भेजा। वर्ष 1938 में 'असम हिन्दी प्रचार समिति' की स्थापना गुवाहाटी में हुई। यह समिति आगे चलकर 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' बनी। आम लोगों में हिन्दी भाषा तथा साहित्य के प्रचार-प्रसार करने हेतु- प्रबोध, विशारद, प्रवीण, आदि परीक्षाओं का आयोजन इस समिति के द्वारा होता आ रहा है। पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी की स्थिति दिनों-दिन सबल होती जा रही है और यह सही दिशा में आगे बढ़ रहा है। हिन्दी का प्रचार-प्रसार तथा उसकी लोकप्रियता एवं व्यावहारिकता टी.वी. (धारावाहिक, विज्ञापन), सिनेमा, आकाशवाणी, पत्रकारिता, विद्यालय, महाविद्यालय तथा उच्च शिक्षा में हिन्दी भाषा के प्रयोग द्वारा बढ़ रही है।**

# असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं की वस्तुस्थिति का अध्ययन

**डॉ. मनोरमा गौतम**
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारत की आधी आबादी महिलाओं की है, भारत की ही क्यूं पूरे विश्व की आधी आबादी महिलाओं की है | यदि बात की जाए भारतीय महिलाओं की तो इसमे कोई दो राय नही कि भारत में महिलाओं की स्थिति दोयम दर्जे की है | रह – रहकर मस्तिष्क में एक ही सवाल कौंधता है जब स्त्री और पुरुष दोनों ही समाज की धुरी हैं तो फिर स्त्री ही दोयम दर्जे की प्राणी क्यूं ? और पुरुष क्यूं नही ? आखिर जब किसी भी समाज के निर्माण में दोनों की ही भागीदारी समान है तो एक ( पुरुष ) श्रेष्ठ कैसे और दूसरा ( स्त्री ) निम्न कैसे ? नर और मादा प्रकृति द्वारा निर्मित दो ऐसे प्राणी हैं जो संसार के पुनर्सृजन में बराबरी का योगदान देते हैं तो फिर यह भेद क्यों ? यह तो समाज की विडम्बना रही है कि असमानता के द्वारा असमान्यता की सृष्टि की जाती रही है |

स्त्री पुरुष की समानता पर अपना विचार व्यक्त करते हुए अनामिका कहती हैं कि – " यहाँ समानता का अर्थ स्पर्धा नही वरन इतना ही है कि स्त्री को सामाजिक , आर्थिक , राजनीतिक , वैधानिक और पारिवारिक क्षेत्र में पुरुष के समान दर्जा मिले | उसे अपनी बौद्धिक तथा अन्य शक्तियों का विकास करने का समान अवसर मिलना चाहिए | समाज और परिवार का ढांचा ऐसा होना चाहिए कि श्रम और संपत्ति में दोनों का हिस्सा समान हो....ऐसे स्वस्थ समाज में स्त्री मादा नही व्यक्ति कहलाएगी | "[1] समयानुसार तथा परिस्थितिनुकूल स्त्री , घर – परिवार , समाज तथा पुरुषों की आवश्यकताओं को पूरा करती रही है | त्याग , दया , क्षमा , समर्पण आदि गुणों से परिपूर्ण स्त्री अपने हर दायित्व को पूरी शिद्दत और ईमानदारी से निभाती रही है किन्तु इन सबके बावजूद भी इस मर्दवादी समाज में उसे कोई विशेष स्थान या सम्मान नही मिला | समय बदल गया किन्तु स्थितियां आज भी नही बदली | स्त्री चाहे किसी भी धर्म , जाति , वर्ण , वर्ग , समुदाय , समाज की हो , शिक्षित हो या अशिक्षित , वृद्ध हो या युवा , नौकरी – पेशा हो या गृहणी , आत्मनिर्भर हो या किसी पर निर्भर गाँव की हो या शहर की , भारत के किसी भी भू – भाग की हो , सभी की दुःख – दर्द पीड़ा समान है कहीं न कहीं , किसी न किसी रूप में उसे समाज की अवहेलना का शिकार होना ही पड़ता है | उसे कदम – कदम पर अपनी सुरक्षा तथा अस्तित्व के लिए संघर्ष करना ही पड़ता है , और वह संघर्ष कर भी रही है |

यदि बात की जाए कामकाजी महिलाओं की तो उन्हें दोहरा संघर्ष करना पड़ता है | कामकाजी महिला घर और बाहर दोनों दायित्वों को एक साथ निभा रही है | घर की देहरी लांघने की वजह से औरत पर जिम्मेदारियों का दोहरा बोझ पड़ा है | जहाँ पहले वह केवल घर का प्रबंध देखती थी , आज घर के बाहर की परेशानियों से भी जूझ रही है | घर के बाहर का असुरक्षित वातावरण उसे और भी अधिक आतंकित करता रहता है | आए दिन स्त्रियों के साथ हो रही घटनाएँ सुनने को आती हैं जैसे – बलात्कार , ऐसिड अटैक , हत्या , ऑनर किलिंग आदि | ऐसे में प्रश्न उठता है कि आखिर ऐसा क्या किया जाए जिससे स्त्रियाँ सुरक्षित भी रहें और निर्भय होकर तथा सम्मान के साथ नौकरी भी कर सके | क्योंकि असुरक्षा की डर से बहुत सी स्त्रियों को बहुत ही दयनीय स्थिति का सामना करना पड़ रहा है और न चाहते हुए भी उन्हें अपनी नौकरी आदि छोड़नी पड़ रही है | असंगठित क्षेत्र में काम कर रही महिलाओं की स्थिति तो और भी खराब है | उसे अपने मालिक या बोस की शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना को भी झेलना पड़ता है और वो झेल भी रही है | उसके पीछे उनका यह डर है कि कहीं बोस नाराज न हो जाए और उनकी नौकरी न चली जाए| यही कारण है कि असुरक्षा के माहौल में भी वह कार्य करने को विवश हैं | इसको इस

तरह देखा जा सकता है – " सरकारी कार्यालयों में कार्यरत महिलाए अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित हैं , किन्तु निजी संस्थानों में काम करने वाली महिलाऐं बहुत ही बंधी – बंधी सी महसूस करती हैं | अपने बोस की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने का आशय होता है नौकरी से हांथ धो बैठना | "[2]

18वी एवं 19वी सदी के सामाजिक परिवेश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग का जन्म (उदय) हुआ | जिसमें संगठित और असंगठित क्षेत्र दोनों ही आते हैं | संगठित श्रमिक वे श्रमिक हैं जो अपने रहन – सहन का स्तर सुधारने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर संगठित होकर प्रयास करते रहते हैं जबकि असंगठित श्रमिक वे हैं जो अपनी आर्थिक दशा सुधारने हेतू संगठित होकर अपने नियोक्ताओं से अपने अधिकारों की बात नही कर पाते हैं | जिससे वे अपने अधिकारों से वंचित रह जाते हैं | इसके अंतर्गत स्त्री श्रमिक और पुरुष श्रमिक दोनों ही आते हैं | यहाँ बात की जा रही है असंगठित क्षेत्र की | कारखाना अधिनियम 1948 के अंतर्गत असंगठित क्षेत्र में कार्यरत श्रमिक वे श्रमिक हैं जो प्रमुख प्रावधानों जैसे स्वास्थ्य , सुरक्षा एवं कल्याण संबंधी उपबन्ध आदि की परिधि से बाहर हैं , जबकि सामाजिक सुरक्षा अधिनियम 2008 के अनुसार असंगठित क्षेत्र श्रमिक वे श्रमिक हैं जो घरेलू कार्य , स्वरोजगार एवं वेतन पर कार्य कर रहे हो तथा जहाँ श्रमिकों की संख्या दस से कम हो | जिनको अधिनियम की अनुसूची – II में शामिल किया गया हो असंगठित क्षेत्र कहलाता है | इसके अंतर्गत व्यक्तिगत या स्वरोजगार के स्वामित्व वाले व्यवसाय जो उत्पादन , वस्तुओं की बिक्री या सेवाएँ उपलब्ध कराने के कामों में संलग्न होते हैं| इसके अतिरिक्त असंगठित क्षेत्र में वह श्रमिक आते हैं जो गांव अथवा शहरों में मजदूरी पर अस्थायी रूप से काम करते हैं | यह श्रमिक वर्ग परस्पर बिखरा हुआ होता है इसलिए इनका संगठन नही हो पाता है |

असंगठित मजदूरों के क्षेत्र में विविध तरह के कार्य और व्यवसाय होने के कारण उनकी सुरक्षा के लिए कोई एक छातानुमा कानून बनाना सरल कार्य नही है | इनमें से कुछ महत्वपूर्ण कार्य निम्न है – कृषि मजदूर , मछली कामगार , रिक्शा चालक , रेहड़ी पटरी पर सामान बेचने वाले , अपने घर में तरह – तरह के काम करने वाले मजदूर या कारीगर , दूसरे के घर में काम कर रहे घरेलू कामगार , निर्माण मजदूर , सफाईकर्मी , कूड़ा बीनने वाले , दुकानों व व्यापार स्थलों में काम कर रहे मजदूर आदि | इन विविध तरह के कार्यों के लिए एक कानून से सुरक्षा देने में कठिनाई तो है , पर इसके बावजूद इन सब कार्यों के लिए कम से कम कुछ सुरक्षा देने वाला एक छातानुमा कानून बनाना आवश्यक है| गौरवदत्त एवं अश्विनी महाजन असंगठित श्रमिको के बारे में अपना मत देते हुए कहते हैं कि – " असंगठित क्षेत्र में नियमित श्रमिक ऐसे मजदूर होते हैं जो दूसरों के लिए काम करते हैं और इसके बदले वेतन या मजदूरी नियमित आधार पर प्राप्त करते हैं | इन श्रमिकों को सामाजिक असुरक्षा को झेलना पड़ता है और इन्हें बीमारी , चोट या वृद्धावस्था के लिए कोई सामाजिक सुरक्षा प्राप्त नहीं होती | इसके विरुद्ध अस्थायी श्रमिकों या दिहाड़ीदार मजदूरों को दोनों प्रकार की असुरक्षा नौकरी की असुरक्षा और सामाजिक असुरक्षा का सामना करना पड़ता है | "[3]

असंगठित क्षेत्र एक व्यापक क्षेत्र है जिसमें महिलाओं का बड़ा भाग एक उद्यमी के रूप में कार्यरत है | फिर वो महिलाएं चाहे शिक्षित हैं या अशिक्षित , सम्पन्न वर्ग से हैं या विपन्न वर्ग से , अपनी – अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार सभी इसमें अपना – अपना योगदान दे रही हैं | कुछ महिलाएं अपनी आर्थिक स्थिति तथा पारिवारिक दबाव के कारण मजबूरीवश अपना तथा अपने परिवार के भरण – पोषण हेतु तथा अपने पति के आर्थिक बोझ में सहयोग देने हेतु काम करती हैं और कुछ महिलाएं ऐसी भी हैं जो पढ़ी – लिखी सुशिक्षित हैं वो अपने स्वयं के अस्तित्व के लिए तथा अपने को किसी पर बोझ न बनने देने के उद्देश्य से काम करती हैं ताकि वह स्वयं के वजूद को कायम कर सकें | यह आज की कटुतम सच्चाई है कि यदि महिलाएं वेतनभोगी कार्य करती हैं तो घर और समाज में उनका आदर बढ़ता है | यह भी सच है कि अगर महिलाओं के लिए आदर है तो घर में उनके काम – काज में उनका हांथ बंटाया जाएगा और घर से बाहर काम करने वाली महिलाओं को अधिक स्वीकार किया जाएगा | किन्तु ग्रामीण कामकाजी महिलाओं की स्थिति ज्यादा दयनीय है | उन्हें अन्य तमाम तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है | सी० एम० पालविया और वी० जगन्नाथन ने 1978 में उत्तर प्रदेश के एक गाँव (कांवल गाँव) में कामकाजी महिलाओं के बारे में अपना शोध प्रस्तुत करते हुए कहा है कि– " आर्थिक रूप से शोषित महिलाएं जो ज्यादा ग्रामीण क्षेत्र में निवास करती हैं , उनका जीवन वास्तव में चिंताजनक है क्योंकि उनको काम के लिए काफी दूर जाना पड़ता है | जिस कारण वो अपने परिवार को उचित समय नहीं दे पाती | जिससे परिवार की सामाजिक , आर्थिक व सांस्कृतिक परिवेश पर सीधा नकारात्मक असर पड़ता है | "[4]

असंगठित क्षेत्र में बड़ी तादात में महिला कर्मचारी भी कार्यरत हैं और वह पुरुषों के बराबर कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही हैं फिर वो चाहे किसी भी प्रकार का उद्योग हो वो अपनी पूरी मेहनत लगा देती है किन्तु फिर भी पारिश्रमिक या वेतन में उनके साथ न्याय नही किया जाता है| उन्हें पुरुषों के मुकाबले कम वेतन दिया जाता है | स्त्री – पुरुष के बीच मजदूरी में अंतर पूरे विश्व में है लेकिन भारत देश में यह गैर – बराबरी कुछ ज्यादा ही है | नीति निर्धारकों के लिए महिला का वेतन अतिरिक्त आय होती है , जो समाज या देश किसी के लिए महत्वपूर्ण नही है| असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा विधेयक 2007 में महिला श्रमिकों को श्रमिक ही नही माना गया है | जबकि असंगठित क्षेत्र में महिला कामगरों की

संख्या पुरुषों की तुलना में ज्यादा है | कानून , बजट और नीतियाँ असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली इन कामगर महिलाओं को मान्यता नही देती है | लेकिन इसके उलट वास्तविकता यह है कि कामगर महिलाएं अर्थव्यवस्था में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से योगदान दे रही हैं | असंगठित क्षेत्र में महिला कामगारों को मजदूरी में गैर – बराबरी तो झेलनी ही पड़ती है साथ ही इनकी सुरक्षा , विशेष जरूरतों और आवश्यक सुविधाओं पर ध्यान नही दिया जाता | आंकडें बतातें हैं कि भारत में पैंतीस करोड़ घरेलू महिलाओं के श्रम की कीमत 613 अरब डॉलर है | लेकिन इस कीमत के बावजूद घरेलू महिलाओं के श्रम का कोई महत्व नही है | उन्हें अनुत्पादक श्रेणी में रखा जाता है | कुछ सर्वेक्षण से पता चलता है कि वर्ष 2005 के मुकाबले वर्ष 2018 में महिला कामगारों की संख्या 36.7 प्रतिशत से घटकर 26 प्रतिशत हो गया है | इनकी लगातार घटती संख्या इस बात की सूचक है कि कुछ सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक सीमाएं हैं जो उनकी रह में रोड़ा अटका रही हैं |

स्त्री चाहे ताकतवर हो या निर्बल दोनों हो सूरतों में वो समाज के ठेकेदारों के हांथों का खिलौना बन रही है | इसका एक कारण यह भी रहा है कि अधिकांश राष्ट्रों और समुदायों में अर्थव्यवस्था और पूँजी पर पितृसत्ता का कब्जा रहा है और पितृसत्ता की यह रणनीति रही है कि हमेशा स्त्री के लिए मानदंड बनाएं जाए | पितृसत्ता ने इन ताकतवर स्त्रियों को कब्जें में करने के लिए उन्हें आजादी दी भी तो केवल अपने उपभोग के लिए , अपने स्वार्थ के लिए | उन्हें अपने घर पर भी सम्भोग के लिए तैयार रहना पड़ता था और अपने कार्यक्षेत्र पर भी | पुरुषों द्वारा आजादी देने के नाम पर उनका खूब शोषण किया गया | इतना ही नही वेतन में भी उनके साथ भेदभाव किया गया | श्रम के क्षेत्र में स्त्री को पुरुष के समान वेतन देने में आनाकानी की गई और यदि किसी भी तरह दिया भी गया तो कम दिया गया और काम अधिक लिया गया | यही नही उसे घर में भी बिना वेतन के श्रम करना पड़ता है और बाहर भी कम वेतन पर काम करना पड़ता है | यदि किसी व्यवसाय के लिए स्त्री अनुकूल नही है तो उसे छंटनी का भी सामना करना पड़ता है जो कि मानवीय धरातल पर गलत है| महिलाएं भी नियमित आय के साथ – साथ स्वतंत्रता , समानता , सुरक्षा और सम्मान चाहती है | वे इस तरह के भेदभाव से व्यथित होती हैं | इस प्रकार स्त्री को लगातार दोयम दर्जे का जीवन जीना पड़ रहा है | कृषि में भी तकनीकि के प्रयोग के कारण हांथों से काम कम लिया जा रहा है जिसका खामियाजा घरेलू स्तर पर और व्यापारिक स्तर पर महिलाओं को भुगतना पड़ रहा है | अब उनकी स्थिति और भी दयनीय हो गई है और उनके हुनर की थोड़ी – बहुत पूछ है भी तो , वहाँ मेहनताना बहुत कम है जो न तो स्त्री जीवन को गति दे पाता है और न सुरक्षा|

इस संदर्भ में मृणाल पांडे लिखती हैं कि – " स्त्रियों की आमदनी और स्वास्थ्य स्तर दोनों घटे हैं और असुरक्षा बढ़ी है | बाजारवाद के इस युग में औरतों के लिए यदि कोई कार्यक्षेत्र फैला है तो वह है देह व्यापार का | "[5]

असंगठित क्षेत्र में श्रमिकों को काम देने वाला एक बड़ा वर्ग है जो लगभग सम्पूर्ण भारत में फैला हुआ है | मुख्यतः बड़े नगरों तथा महानगरों में इसने अपने पैर ज्यादा ही पसारे हैं | इन्हें निर्माण उद्योग ( कंस्ट्रक्शन इंडस्ट्री ) कहा जाता है | इसमें आमतौर पर करार पूरे परिवार के साथ किया जाता है जिसमे पति – पत्नी , बच्चे सबसे काम की अपेक्षा रखी जाती है | कुछ निश्चित अवधि के लिए यह करार होता है | भारत में ऐसे परिवार अक्सर दूसरे प्रदेशों में जा बसे हैं और काम पाने का उनका एकमात्र जरिया ठेकेदार या जमादार हुआ करते हैं | वे उन्हें लगभग बंधुआ जैसे हालात में रखते हैं | ये सब मजदूर राजस्थान , उत्तर प्रदेश , मध्य प्रदेश , पश्चिम बंगाल, उड़ीसा , केरल जैसे दूर–दूर के प्रदेशों में भी आए हुए हैं, उनकी मजदूरी बहुत कम होती है , काम के समय हुई दुर्घटना का और मृत्यु का कोई मुआवजा उन्हें नही दिया जाता है | मुख्यतः इसमें महिला कामगार अधिक शोषण का शिकार होती है क्योंकि इसमें उनका मानसिक और शारीरिक दोनों तरह से शोषण किया जाता है |

असंगठित क्षेत्र में बालिकाएं प्राय: घरेलू नौकरानी का कार्य करती हैं और उन्हें उनके माता पिता द्वारा वेतनिक श्रम के रूप में निर्माण कार्यों के लिए भी साथ ले जाया जाता है | गरीब माता – पिता पैसे उधार लेते हैं और अपनी लड़की को जमानत के तौर पर दे देते हैं जहाँ उसे बंधक मजदूर के रूप में काम करना पड़ता है | ईंट पत्थर खदानों आदि उद्योगों में भी महिलाएं बहुत अधिक संख्या में काम कर रही हैं | महिलाएं अपने शरीर के वजन से ज्यादा भार ढो रही हैं जिनके कारण उन्हें तमाम तरह की शारीरिक पीडाओं को भी झेलना पड़ता है | ज्यादा बोझ ढ़ोने से गर्भवती महिलाओं का गर्भपात हो जाता है, मासिक धर्म के दौरान अधिक कार्य करने से उन्हें तमाम तरह की हार्मोनिक प्रोब्लम से गुजरना पड़ता है | भट्ठे के धूंआ आदि में काम करने से उन्हे सांस की बीमारी तथा कई तरह की तकलीफों का शिकार होना पड़ता है किन्तु इसके बावजूद भी वेतन में कोई बढ़ोतरी नही होती है | और न ही उन्हें इलाज की कोई सुविधा दी जाती है | यदि उनके साथ कोई दुर्घटना घटित हो जाती है तो उसका कोई मुआवजा भी नही दिया जाता है |

महिला मजदूरों के बीच कबाड़ बीनने का काम काफी प्रचलित है| कबाड़ बीनने वाली लडकियाँ कागज, प्लास्टिक के टुकड़े, टिन, नारियल के खोल , लोहे और गिलास के टुकड़े , धातु के टुकड़े आदि को इकठ्ठा करती हैं | इस कार्य के दौरान अक्सर उनके हांथ– पैर कट जाते हैं, उन्हें चोट लग जाती है , घाव आदि होने से उन्हें टेटनेस आदि हो जाता है| इतना ही नही वे चर्मरोग आदि बीमारियों से ग्रसित हो जाती

हैं किन्तु उनके मालिकों द्वारा उनके लिए कोई उपचार नही करवाया जाता इनके प्रति उनका रवैया रुखा ही रहता है।

भारत में 8–14 साल के आयु वर्ग की लड़कियों का एक बड़ा समूह है जो घर पर बहुत ही कम दर पर काम करते हैं। वे मध्य – प्रदेश , तमिलनाडु और केरल में बीड़ी कामगार, अहमदाबाद में रेडीमेड वस्त्र कामगार, लखनऊ में रेशमी वस्त्र (चिकन ) कामगार के रूप में कार्यरत हैं। इनके अलावा लडकियाँ पापड़ बेलने , आचार बनाने या खिलौने बनाने आदि में भी सहयोग देती हैं । इस दौरान इन्हें तमाम तरह की शारीरिक पीडाओं को झेलना पड़ता है, जैसे - सिर में दर्द होना, आँखों से पानी आना तथा उसकी रौशनी कम हो जाना, गर्दन तथा कमर में दर्द रहना इस तरह की तमाम समस्याओं का उन्हें सामना करना पड़ता है।

महिला कामगारों की बहुत सी संख्या माचिस बनाने में भी संलग्न हैं तथा आतिशबाजी उद्योग में भी अपना सहयोग देती हैं। यह कार्य बहुत जोखिम भरा है। इस कार्य के दौरान उनके हांथ – पैर आदि जल जाते हैं। चिंगारी पड़ने से उनके आँखों पर भी इसका असर पड़ता है। खतरनाक तथा जहरीले रसायनों जैसे पोटेशियम क्लोरेड, फोस्फोरस, रथ जिंग ऑक्साइड को हाथ में लेते हैं। इस प्रकार के रसायनों को हाथ में लेना जोखिमपूर्ण कार्य है। ऐसे स्थानों पर कार्य करने वाली लडकियाँ अक्सर दुर्घटना का शिकार होती रहती हैं।

कांच की चूड़ियाँ बनाने वाली लडकियों को रासायनिक धूल, धूंआ आदि से प्रदूषित वातावरण में काम करना पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों में निरंतर काम करने से वे दमा, श्वांस, आँखों में जलन, अवरुद्ध विकास, तपेदिक, कैंसर आदि भयंकर बीमारियों से ग्रस्त हो जाती हैं । हीरा काटने, कीमती पत्थर की पोलिश तथा कटिंग उद्योग में महिलाकर्मी चर्मरोग, नेत्र समस्या, सिरदर्द, वायरल तथा अन्य संक्रामक रोगों से ग्रस्त रहती हैं।

उत्तर प्रदेश में कालीन उद्योग तथा उत्तर पूर्वी भारत में चाय बागानों में 14 वर्ष से कम आयु की लडकियाँ काम करती हैं। जम्मू–काश्मीर में शाल तथा कालीन निर्माण , मिर्जापुर में कालीन बुनने , मुरादाबाद में पीतल तथा कांसे के बर्तन बनाने तथा खुर्जा एवं समस्त उत्तर प्रदेश में मिट्टी के बर्तन बनाने। मकरापुर (आन्ध्र प्रदेश) , मंदसौर (मध्य प्रदेश) में स्लेट उद्योग तथा भिवांडी (महाराष्ट्र) में बिजलीकरघा में भी लड़कियों को काम करते देखा जा सकता है। जहाँ पर उन्हें तमाम तरह की शारीरिक, मानसिक दुर्व्यवहार का शिकार होना पड़ता है। मालिक की गालियों तथा उनकी हुड़की के साथ उनकी गन्दी नजरों को भी झेलना पड़ता है।

इसी प्रकार जयपुर में कीमती पत्थरों को काटने तथा उन पर पोलिश करने, अलीगढ में ताला उद्योग में तथा बनारस में जरी की कढ़ाई के काम में , सूरत में हीरा काटने के काम में, कोचीन में सूती वस्त्रोद्योग के सूत काटने के विभाग में, उत्तरी चेन्नई तथा कन्याकुमारी में मत्स्य क्षेत्रों में, दक्षिण भारत में हथकरघा उद्योग तथा अन्य गृह आधारित उद्योगों में भी महिला कर्मचारी कार्य करती हैं।

शहरों में लडकियाँ बड़ी संख्या में घरेलू नौकरानी का काम करती हैं। अकेली दिल्ली में 8 से 14 साल की एक लाख लडकियाँ घरेलू नौकरानी का काम करती हैं । अधिकांश लडकियाँ या तो समूहों में या फिर पारिवारिक सदस्यों के साथ दिल्ली आती हैं और घरों में काम करती हैं। मुम्बई में मजदूरों का पांचवा हिस्सा घरेलू नौकरों के रूप में पैसा कमाते हैं। अलग–अलग कार्यो में काम करने के घंटे अलग–अलग होते हैं। सामान्यत: एक बालिका मजदूर 3-12 घंटे काम करती है। उन्हें मजदूरी के साथ कोई साप्ताहिक अवकाश नही दिया जाता। कई बार विशेष परिस्थितियों में 8–10 घंटे काम करती हैं। वे बिना रुके न्यूनतम मजदूरी के काम करती रहती हैं। लड़कियों के लिए कार्य की परिस्थितियाँ अक्सर प्रतिकूल तथा हानिकारक रही है। जिन परिस्थितियों में वे काम करती हैं वो अमानवीय तथा जोखिमपूर्ण होती है। पुरुष कामगारों के मुकाबले महिला कामगारों को कम सुविधा दी जाती है। उन्हें सुविधाओं के अभाव में लम्बे समय तक काम करने के लिए मजबूर किया जाता है। कई बार उन्हें बहुत कम मजदूरी दी जाती है तथा अधिक काम के लिए अतिरिक्त पैसे भी नही दिए जाते और न ही उन्हें साप्ताहिक अवकाश अथवा वैतानिक अवकाश दिया जाता है। उनके स्वास्थ्य की भी देखभाल नही की जाती । अक्सर उन्हें भूखा रहना पड़ता है, घूमने फिरने अथवा खाली बैठने की उन्हें स्वतंत्रता नही होती। वे सामान्यतया प्रतिकूल व्यवस्था, असुरक्षित, अँधेरे तथा विपरीत वातावरण में काम करती हैं। कई बार उन्हें भारी सामान उठाना पड़ता है जो उनके शारीरिक क्षमता से परे होता है। शारीरिक, मानसिक तथा यौन शोषण तो आम बात है उनके लिए। असंगठित महिला मजदूरों के साथ होने वाले अत्याचारों की दास्तान वाकई में बहुत ही अमानवीय है। उनके साथ होने वाला भेदभाव यह दर्शाता है कि इन्हें केवल एक साधन के रूप में देखा जा रहा है जिससे सिर्फ मनमाना काम लिया जा सके , उसके द्वारा मुनाफा कमाया जा सक , किसी मशीन के कल पुर्जों की भांति उसके कोमल और महत्वपूर्ण अंगों के साथ खिलवाड़ किया जा सके। महिला उनके द्वारा किये गए कुकृत्य को जब तक बर्दास्त करती है तो ठीक है वरना विरोध करने पर उसे निकाल बाहर करते हैं। महिला श्रमिकों के शोषण का नवीनतम उदहारण महाराष्ट्र में सामने आया है। महाराष्ट्र की बीड़ जनपद में पिछले तीन वर्ष में 4605 महिलाओं के गर्भाशय इस कारण निकाल दिए गए कि उनका रजोधर्म (माहवारी) बंद हो जाए और इस तरह उनके बार – बार छुट्टी लेने के कारण गन्ना कटाई का कार्य बाधित न हो। डॉ० अम्बेडकर ने महिलाओं के साथ हो रहे इस अमानुषिक व्यवहार के विषय में कहा है कि – " समाज को मिलने वाली ऊर्जा का आधा हिस्सा महिलाएं हैं। महिलाओं में वे सभी गुण एवं क्षमताएं होती हैं जो मर्दों में होती हैं। जो समाज महिलाओं

के योगदान को कम करके देखता है या उसे मात्र 'अनुचरी' की भूमिका में रखता है वह समाज का बीमार अंग ही हो सकता है | उनका मानना था कि समाज के उन्नत होने का मापदंड उस समाज के पुरुष न होकर स्त्रियाँ होती हैं | "[6]

महिला कामगार आज भी सामाजिक सुरक्षा, समान पारिश्रमिक, अवकाश, मातृत्व अवकाश, सुविधा लाभ , विधवा गुजारा भत्ता और कानूनी सहायता आदि से वंचित हैं | हालांकि असंगठित क्षेत्र की कुछ श्रेणियों के लिए कुछ कानून देश के अलग – अलग हिस्सों में पहले से ही मौजूद है , जैसे – महाराष्ट्र का मथारी वर्कर्स कानून , डॉक वर्कर्स कानून, रोजगार गारंटी कानून, तमिलनाडू सोशल सेक्युरिटी कानून आदि पर ये कानून असंगठित क्षेत्र के अधिकांश मजदूरों को सुरक्षा देने के लिए पर्याप्त नही है | ' कल्याण कोश व कल्याण बोर्ड ' की स्कीमे असंगठित क्षेत्र की कुछ श्रेणियों तक व कुछ राज्यों तक ही सीमित है | परिणामस्वरूप अधिकतर असंगठित मजदूर इन कानूनी प्रावधानों तथा अन्य विभिन्न योजनाओं का फायदा नही उठा पाते हैं | इसके अतिरिक्त महिला कामगारों के लिए कुछ विशेष नियम भी बनाए गए हैं जिसके निम्न बिंदु हैं -

- किसी महिला कामगार से किसी भी दिन नौ घंटे से अधिक और किसी सप्ताह में अड़तालीस घंटे से अधिक कार्य करने की अपेक्षा नही की जाएगी |
- किसी महिला कामगार को जो सुबह पांच बजे और छह बजे के बीच या शाम सात और रात दस बजे के बीच कारखाने में काम करने से इनकार करे , केवल उक्त अवधि के दौरान कार्य करने के कारण नियोजन से नही हटाया जाएगा |
- अधिष्ठाता ऐसे समस्त कामगारों को मध्याह्न भोजन ,रात्रि भोजन के लिए कैंटीन व्यवस्था उपलब्ध कराएगा |
- किसी महिला कामगार को शाम सात बजे से रात ग्यारह बजे के बीच काम करने के लिए बुलाने के लिए नियोजक को शपथ पत्र देना होगा |
- महिला कामगारों की सुरक्षा का पर्याप्त ध्यान रखा जाएगा |
- महिला कामगारों को मातृत्व अवकाश दिया जाएगा|
- महिला कामगारों के साथ कोई अप्रिय घटना होने पर उनको हर्जाना दिया जाएगा |

वर्ष 1993 में स्थापित राष्ट्रीय महिला कोष (आर.एम.के.) सूक्ष्म वित्त के माध्यम से महिलाओं के सामाजिक – आर्थिक सशक्तिकरण के लिए महिला और बाल विकास मंत्रालय के संरक्षण के तहत एक राष्ट्रीय स्तर का संगठन है , जो लाभ से वंचित महिलाओं के लिए ऋण और सामाजिक सेवाएं प्रदान कर उन्हें आत्मनिर्भर बनाता है |

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि असंगठित क्षेत्र में काम कर रही महिलाओं को बहुत सी आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा व्यावसायिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है | उन्हें सिर्फ अपने परिवार, पड़ोस , समाज से ही नही संघर्ष करना पड़ता है बल्कि अपने कार्य–स्थल या कार्यक्षेत्र पर भी तमाम तरह की कटूक्तियों से संघर्ष करना पड़ता है| कदम – कदम पर उन्हें नीचा दिखाया जाता है, उनके मार्ग अवरुद्ध किए किए जाते हैं , उन्हें तिल तिल कर जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता है | उनका सिर्फ शारीरिक या मानसिक शोषण ही नही किया जाता बल्कि उनका यौनिक शोषण होता रहता है जो कि असहनीय है | चूंकि असंगठित क्षेत्र में काम कर रही महिलाएं इतनी जागरूक नही हैं कि वो इन सबका विरोध कर सकें , इनके खिलाफ आवाज उठा सकें तथा अपनी सुरक्षा की मांग कर सकें | इसके लिए राष्ट्रीय महिला कोष द्वारा कुछ नियम तथा कानून बनाएं गए हैं जिसके द्वारा वे अपनी समस्याओं को हल कर सकती हैं | किन्तु उन महिलाओं को इन सब की पर्याप्त जानकारी न होने के कारण असंगठित क्षेत्र के मालिक वर्ग इस बात का फायदा उठाते हुए इन महिलाओं का शोषण करते हैं |जीवन में आर्थिक रूप से सशक्त न होने का कई बार परिणाम यह होता है कि स्त्रियाँ अपने साथ होने वाले अन्याय के विरुद्ध आवाज नहीं उठा पाती है आवाज़ उठाने का मतलब है जीवन में मिलने वाली आंशिक सुविधाओं से भी वंचित हो जाना | जीवन की विसंगतियां उन्हें बहुत कुछ असहनीय भी सहने को विवश करता है ऐसे में समाज का उनके प्रति संवेदनशील होना अति आवश्यक है |

**सन्दर्भ : -**


1. अनामिका.समन्वित नारीवाद और भारतीय देवियाँ : हंस , जनवरी. 1995 , पृष्ठ.29
2. गौरवदत्त एवं महाजन,अश्विनी. भारतीय अर्थव्यवस्था. एच० चन्द० एंड कम्पनी लिमिटेड. पृष्ठ.46
3. पांडे मृणाल.हंस. जनवरी – फरवरी 2000. पृष्ठ. 165
4. आर्यकल्प.जनवरी 2008 , पृष्ठ – 143
5. अनामिका.समन्वित नारीवाद और भारतीय देवियाँ : हंस, जनवरी. 1995 , पृष्ठ.92
6. गौरवदत्त एवं महाजन,अश्विनी. भारतीय अर्थव्यवस्था. एच० चन्द० एंड कम्पनी लिमिटेड. पृष्ठ.112

# साहित्य और प्रकृति का अंतर्संबंध

**डॉ. वासुदेवन शेष**
पी.एच.डी. डी.लिट्
विदयावाचस्पति विदयासागर, विदया भास्कर

**सारांश**
*साहित्य का प्रकृति से हमेशा अटूट संबंध रहा है या यूँ भी कहा जा सकता है प्रकृति ने अपनी छटा से साहित्य में अनेकों रंग बिखरे है ।प्रकृति मानव की सदैव सहचरी रही है । रामायण काल से ही प्रकृति ने भगवान का चित्रकूट प्रवास, गंगा तट , प्रणकुटी में रहना आदि ने चाहे फिर वे वाल्मिकी ऋषि हो या तुलसीदास जी उन्होने अपनी साहित्य में प्रकृति की अदभूत छवि की भूरि भूरि प्रंशसा की है जिससे रामायण महाकाव्य जन मानस के पटल पर छा गया । जनकपूर में सीता के साथ प्रथम वाटिका मिलन और वहाँ की प्राकृतिक छवि ने राम को मोह लिया ।*

*कालांतर में महाकवि कालीदास, पंत, महादेवी, हरिऔध, राम कुमार वर्मा, भारतेन्दु जयशंकर प्रसाद, निराला और बच्चन । हिंदी के ही नहीं अन्य भाषाओं के साहित्यकारों ने कवियो ने अपने साहित्य में प्रकृति को जोडा है । प्रकति के अनोखे रूप को अपने संवादों में नाटको में उपन्यासों में कहानियों में उकेरा है । हमें यह कहने में कोई संकोच नही जहाँ प्रकृति नहीं वहाँ साहित्य नहीं।*

**बीज शब्द**
मानवेतर जगत,नैसर्गिक, सहचरी,कौतुहल,चेतना का विकास,सौन्दर्य का अक्षय भण्डार,अविछिन्न सम्बन्ध,

प्रकृति से अभिप्राय –डॉ किरण कुमारी गुप्ता के अनुसार “---व्यावहारिक रूप से तो जितनी मानवेतर सृष्टि है, उसको ही हम प्रकृति कहते है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से हमारा शरीर और मन, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, मुन-बुद्धि, चित्त , अहंकार आदि सूक्ष्म तत्व प्रकृति के अन्तर्भूत है ”।सांख्यदर्शन की प्रकृति सारी सृष्टि का कारण है । वेदान्तियों ने भी भिन्न-रूप से प्रकृति की व्याख्या की है । शांकर मत के अनुसार वह माया के रूप से अनिर्वचनीय है । विशिष्टाद्वैत में वह उचित रूप से ब्रह्म का एक विशेषण है । लेकिन व्यावहारिक क्षेत्र में प्रकृति का अर्थ मानेवतर जगत है । प्रकृति या प्राकृतिक शब्द का अर्थ है स्वाभाविक । अत: प्रकृति के अंतर्गत वे सारी वस्तुएं आती है जो मानव के हाथो से सजाया या संभाला नहीं गया है और जिनकी नैसर्गिक सुंदरता दर्शकों को आकर्षित एवं मंत्रमुग्ध् करती है ।

नैसर्गिक रूप ,रस, गंध, स्पर्श ,श्रवण आदि द्वारा औरों को आकर्शित करनेवाली सभी वस्तुएं प्रकृति के अंतर्गत आती है । इनके आलावा पशु पक्षी भी प्रकृति के अंतर्गत आ जाते है क्योंकि ये प्रकृति के अभिन्न अंग हैं । प्रकृति मानव की आदि सहचरी है । प्रकृति के क्रोड में उत्पन्न मानव ने उसी के संपर्क में धीरे –धीरे अपनी चेतना का विकास किया है । प्रकृति ने ही आदि मानव की भूख, प्यास आदि सहज वृत्तियों का समाधान किया । इसी के कारण मानव और प्रकृति के बीच अटूट संबंध स्थापित हुआ । मानव की हृदयगत भावनाओं के विकास में भी प्रकृति का मुख्य स्थान है । मानव के चेतन मस्तिष्क में पहले पहल प्रकृति के अलौकिक एवं असीम अंगों के प्रति कौतुहल उदय हुआ, उसके बाद प्रकृति के विशाल रूप को देखकर मानव चकित हुआ। प्रकृति पुन:शांत रूप में लक्षित हुई तो मानव हृदय में उसके प्रति एक नवीन भावना का उदय हुआ जो विश्वास कहलाता है। प्रकृति के भिन्न- भिन्न रूपों के दर्शन के उपरांत प्रकृति की शक्ति की तुलना में मानव ने अपने को तुच्छ माना।

प्रकृति मानव के लिए चिंतन एवं मनन का विषय बन गया। मानव प्रकृति के मंगलमय कृतियों से बहुत प्रभवित हुआ । अत: वह प्रकृति में देवत्व की प्रतिष्ठा कर उसका गुणगान करने लगा । मानव ने प्रकृति के विभिन्न अंगों को इन्द्र, सूर्य,वरूण, चंद्र, वायु, पृथ्वी आदि नाम भी दिये । मानव के चेतन मस्तिष्क में प्रकृति के प्रति पूजा की भावना का उदय हुआ ।मानव ने एक ऐसी शक्ति की कल्पना की जो समस्त विश्व की संचालिका है । मानव की कल्पना अनुसार उस शक्ति के अभाव में प्रत्येक परमाणु निश्चेष्ट बन जाता है। मानव के विश्वास के अनुसार जड चेतन, चर-अचर सभी के क्रिया कलापों में यही अव्यक्त एवं अज्ञात शक्ति अनुस्यूत है।

महाकाव्यों में आकर प्रकृति मानव ह्रदय की विभिन्न भावनाओ की क्रीडा भूमि बन गयी । वाल्मीकी के राम की वियोगावस्था में प्रकृति उनकी सहयोगिनी सी बन गयी । उदाहरण : वाल्मीकी आरण्य 52 –श्लोक-38 में (सीता हरण से दु:खी पर्वत श्रेणियाँ अपने शिखर भी भूजाओं को उठा, झरनों के बहाने अश्रुबहा मानों रो रही है ) सृष्टि के आरंभ और विकास का इतिहास जितना पुराना है उतना ही पुराना है मानव और प्रकृति का संबंध भी ।इस अटूट संबंध की अभिव्यक्ति, धर्म, दर्शन, साहित्य और कला में चिरकाल से होती रही है । मानव जीवन का प्रतिंबिंब है साहित्य अत: उसमें उसकी सहचरी प्रकृति का भी प्रतिबिंब मिलना स्वाभाविक है। प्रकृति मानव ह्रदय और काव्य के बीच संयोजन का कार्य भी करती रही है । प्रकृति हमारे कवियों के लिए प्रभा का स्त्रोत ही नहीं, सौन्दर्य का अक्षय भण्डार,कल्पना का अदभूत लोक, अनुभूति का अगाध सागरऔर विचारों की अटूट श्रृंखला भी है ।

हिंदी साहित्य में सभी ख्याति प्राप्त साहित्यकारों ने अपने काव्यों , कहानियों, उपन्यासों, नाटकों में बखुबी प्रकृति चित्रण किया है ।प्रकृति के चित्रण के बिना साहित्य अधुरा है ।साहित्य का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि मानव और प्रकृति के बीच अविछिन्न सबंध है । साहित्य का मुख्य विषय है मानव ,लेकिन प्रकृति के सहयोग के बिना मानवीय चेष्टाओं एव मनोदशाओं की अभिव्यक्ति भाव रहित और नीरस बन जाती है । उदार प्रकृति मानव के भौतिक जीवन के लिए आवश्यक सार सामग्री प्रदान करती है । उसी प्रकार उसके भैतिक, आध्यातमिक तथा भावात्मक जीवन को भी यथेष्ट वस्तुएं प्रदान करके उसे सपन्न बनाती है ।कविगण अपने काव्यों में प्रकृति के विभिन्न रूपों एवं तत्वों का भी वर्णन करते हैं । प्राकृतिक सौंदर्य से आकृष्ट मानव आत्मविभोर हो जाता है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार---" मानव मन की यही देशा मुक्तावस्था कहलाती है और यही मुक्तावस्था रस दशा है ।"

प्रकृति के उपयोगी और विश्लेषणात्मक रूप का विचार करनेवाला मानव वैज्ञानिक है । प्रकृति के सौन्दर्य पर लीन होकर उसका वर्णन करनेवाला व्यक्ति भावुक कवि है । दोनों ही प्रकृति से संबंध स्थापित करते हैं । लेकिन दोनों के दृष्टिकोण में भिन्नता है । महाकवि कालीदास के रघुवंश में वैविद्यपूर्ण प्रकृति का विविध रूपों में चित्रण हुआ है । अनेक स्थानों में प्रकृति राम और सीता के लिए उद्दीपन रूप में प्रस्तुत हुई है ।प्राकृतिक तत्व पात्रों के भावों से इतने मिल जुल गये हैं कि प्रकृति मानो एक संवदेना युक्त पात्र की तरह दिखायी देती है । जब राघव युद्ध जीत कर सीता सहित लौटते हैं तब पहले देखे हुए प्राकृतिक दृश्य उनको अत्यधिक मोहित करते हैं । वे प्रकृति से अत्यधिक अभिभूत होकर सीता को पूर्व जीवन की घटनाओं की याद दिलाते है । ऐसे संदर्भों में दोनों की संवदेनाओं को जगाने में प्रकृति का महत्वपूर्ण योगदान है ।

कालीदास के 'मेघदूत' में प्रकृति का इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि नायक यक्ष मेघ को दूत बनाकर अपनी विरह गाथा सुनाने नायिका के पास भेजता है । 'कुमारसंभव' आदि उनकी अन्य रचनाओं में भी प्रकृति को महत्वूपर्ण स्थान प्राप्त है । भारतीय साहित्य में ही नहीं पाश्चात्य साहित्य में भी प्रकृति को साहित्य का अभिन्न अंग माना है । मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए हर देश के कवियों ने प्रकृति का सहारा लिया है । ग्रीक , लैटिन जैसी भाषाओं के प्राचीन साहित्य में प्रकृति वर्णन का अक्षय भंडार है | विश्व विख्यात नोबल पुरस्कार प्राप्त महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं में भी प्रकृति का वर्णन मिलता है उनकी गीतांजलि का एक उदाहरण दृष्टव्य है -

*आषाढ की सन्ध्या घनी हो गयी,*
*दिवस का अवसान हो गया ।*

अंधेरी रात के सारे रिक्त पहर आज फिर स्वरों से भर सकूँगा ? कौन सी मुरली खोने से मैं आज सब भूलकर व्याकुल हो उठा हूँ-

*वर्षा की जलधारा रह रहकर बरस रही है ।"*

आदिकाल से लेकर आजतक के साहित्य का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट होती है कि अपभ्रंश काल में स्वयंभू,पुष्पदंत आदि की रचनाओं में नदी, पर्वत,वन, समुद्र आदि का मोहक वर्णन मिलता है ।संदेश रासक आदि अति प्राचीन रचनाओं में तो पूरा पूरा प्रकृति वर्णन ही देखने को मिलता है उसके बाद प्रकृति के विशाल रूप को देखकर मानव चकित हुआ | प्रकृति पुन:शांत रूप में लक्षित हुई तो मानव ह्रदय में उसके प्रति एक नवीन भावना का उदय हुआ जो विश्वास कहलाता है । प्रकृति के भिन्न- भिन्न रूपों के दर्शन के उपरांत प्रकृति की शक्ति की तुलना में मानव ने अपने को तुच्छ माना । वीरगाथा काल के काव्यों में यद्यपि वीर रस की प्रधानता है फिर भी कवियों ने प्रकृति का विशद वर्णन किया है । पृथ्वीराज रासों में विभिन्न ऋतुओं में प्रकृति की दशा का वर्णन किया है । वर्षा की समय की परिस्थितियां का विशद वर्णन मिलता है ---

*झिरमिर झिरमिर झिरमिर ए मेहाबरिसंति ।*
*खलहल खलहल खलहल बादला वहंति ।*
*झब झब झब झब झबझब बीजुलिय झबकाइ ।*
*थरहर थरहर थरहर ए विरहिणिमणु कंपइ ।"*

प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । जैसे पद्मावत में तो प्रकृति के सुन्दर एवं स्वाभाविक वर्णनों को अक्षय भंडार विद्यमान है ---

बसहिं पंखि बोल हिं बहु भाखा । कर
हिं हुलास देखि कै साखा ।
भेर होत बोलहिं चुह चूही।
बोलहिं पॉडुक 'एक तूही ' !

आधुनिक युग में भारतेन्दु युग हिंदी काव्य में विचार और अभिव्यंजन की दृष्टि से परिवर्तन का युग था । काव्य के सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। इससे प्रकृति वर्णन की परिपाटी में भी काफी परिवर्तन आया ।रीतिकालीन काव्य की रूढिबद्ध शैलियों और विषय की सीमाओं को तोडकर कविता को नई दिशा देने का प्रयास किया गया ।इसका प्रभाव तत्कालीन प्रकृति वर्णन पर भी पडा । नयी शैली में अधिक स्वच्छंदता के साथ अनेक कवियों ने प्रकृति वर्णन प्रस्तुत किये। भारतेन्दु की महिमा में एक ओर गंगा के मनोहर रूप का चित्रण किया गया है तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति से उसका संबंध जोड़ा गया है। श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा' रोमांतिक भाव विकास उत्तम उदाहरण है।

द्विवेदी युग के कवियों में भी अनेको ने अपने काव्य में प्रकृति को यथेष्ट स्थान दिया है ।मैंथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, श्यामनारायण पाण्डेय, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय है ।इस काल में स्वच्छंद भाव विकास की प्रवृत्ति अधिक बढी जिसका प्रभाव तत्कालीन प्रकृति वर्णनों में भी देखा जा सकता है । रामनरेश त्रिपाठी के मिलन, पथिक,स्वप्न आदि के प्रकृतिवर्णन अत्यंत स्वच्छंद कल्पना के उदाहरण है। दूसरी ओर मैथिली 'शरण गुप्त की कविताओं में प्रकृति के द्वारा भी आदेर्शो को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है । मैथिल कोकिल विद्यापति की रचनाओं में यद्यपि श्रृंगार की प्रधानता है तथापि स्थान स्थान पर उन्होनें बारहमासा,षटऋतु का भी चित्रण किया है । अधिकतर उद्दीपन रूप में ही उन्होनें प्रकृति को अपनाया है तो भी कहीं कहीं प्रकृति का आलंबन रूप भी लक्षित होता है ---

*माघ मास सिरि पंचमि गँजइलि*
*नवए माँस पंचम हरूआइ ।*
*अतिपन पीडा दुख बड पाओल*
*बनस्पति के बधाइ हो ।"*

धीरे धीरे यह प्रवृत्ति बढती गयी और और अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध में आकर प्रकृति को काव्य में एक विशिष्ट स्थान मिला । उनकी प्रमुख रचना "प्रिय प्रवास" का आरंभ ही प्रकृति वर्णन से हुआ है ।

*दिवस का अवसान समीप था*
*गगन था कुछ लोहित हो चला ।*
*तरू शिखर पर थी अब राजती*
*कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा ।"*

हरिऔध के बाद मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी को इस परम्परागत काव्य के पोषक मान सकते हैं । गुप्त जी का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

नहलाती है नभ की दृश्टि
अंग पोंछती आतप सृष्टि,
करता है शीश शीतल दृष्टि
देता है ऋतु पति न श्रृंगार
ओ गौरव गिरि , उच्च उदार ।"

जयशंकर प्रसाद का महाकाव्य कामायनी में सर्वत्र प्रकृति चित्रण का सौकुमार्य दर्शित है । उन्होनें प्रकृति के विभिन्न रूपों सुकुमार, शांत, रौद्र, विकराल का सुन्दर चित्रण किया है ।

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हॅसने फिर से
वर्षा , बीती, हुआ सृष्टि में शरद विकास नये सिर से ।
नव कोमल आलोक बिखरताहिम संसृति पर भर अनुराग।
सित सरोज पर क्रिडा करता जैसे मधुमय पिंग पराग ।"

यहाँ प्रकृति का हँस मुखी नायिका के रूप में प्रकट कर उसका सांगोपांग वर्णन किया| छायावादी युग के कवियों के लिए प्रकृति ही प्राण है । सुमित्रानंदन पंत जी तो प्रकृति के ही कवि है । पंत की संपूर्ण रचनाओं में प्राकृतिक सुषमा खुलकर खेलती है । प्राकृतिक सौंन्दर्य के अन्नय आराधक है पंत जी ।

*छोड द्रमों की मृदु छाया, तोड प्रकृति से भी माया,*
*बाले तेरे बाल जाल पर कैसे उलझा दूँ लोचना*
*भूल अभी से इस जग को ।"*

ये कहकर पंत ने प्रेयसी से बढकर प्रकृति को अधिक महत्व दिया है। प्रकृति का आलंबन रूप में चित्रण पंत में प्रचुर मात्रा में मिलता है –

*कैसी किरणें बरस रहीं*
*जाने किस नभ से,*
*प्रिय श्री पाटल का मुख*
*फालसई आभा से*
*दिखता परिवृत्त*
*शुभ्र कुंद कलियाँ*
*स्वर्णिम हँस मुख मण्डल से*
*लगती शोभित ।"*

यहाँ प्रकृति सुन्दरी ही कवि की कृति का आलंबन हे ।उसके शरीर के प्रत्येक अंग का सूक्ष्म एवं विशद वर्णन कवि करते है।

महाप्राण निराला जी की अनेक कविताओं में भी प्राकृतिक वस्तुओं को मूर्तिमान बनाने वाला मानवीकरण द्रष्टव्य है ।---

*विजन वन वल्लरी पर*
*सोती थी सुहाग भरी—*
*स्नेह –स्वप्न –मग्न*
*अमल कोमल तनु तरूणी*
*जुही की कली,*
*दृग बंद किये , शिथिल, पंत्राक में ।"*

यहाँ कवि जुही की कली को निद्रा में लीन नारी के रूप में चित्रित करता है । अंग प्रत्यंग का मानवीकृत वर्णन एक सामान्यत कली कैसे एक राग विराग मय युवती के रूप में हमारे सामने आता है ।

प्रसाद जी कामायनी में प्रकृति को प्रियतम से मान किये बैठी एक नारी के रूप में चित्रित किया है।---

*सिंधु सेज पर ध्रा वधु जब तनिक संकुचित बैठी थी ।*
*प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किये सी ऐंठी सी ।"*

उन्होनें प्रकृति का चित्रण करते हुए भी सर्वत्र उसे कोमलतम रूप में चित्रित किया और उस पर तरलतम भावों को आरोप किया है ।

रामकुमार वर्मा में भी प्रकृति के प्रति विशेष अनुराग पाते है ।रामकुमार वर्मा की रचनाओं में रहस्यवाद की प्रधानता है ।उस अलौकिक परम सत्ता का, प्रिय का सौंदर्य प्रकृति के प्रत्येक अंग में झलकता है । यह देखकर कवि को कौतुहल होता है 1 ओस की मुस्कान, विहंगों के कुजंन मे, संध्या के मिलन और उदास वातावरण मे हर कहीं प्रिय की महानता दिखाई पडती है ।

*कौन गा रहा है कोकिल के*
*कंठों से मधुमय कल गान*
*कौन भ्रमर बन कर करता है*
*कलियों से नूतन पहिचान ।"*

कवि की इसी अनुभूति के कारण वे प्रकृति चित्रण में रहस्यवसाद के प्रवाह में बह जाते है फूल कली लहर निर्झर सभी में वे ईश्वरीय संकेत पाते है ।

इसी प्रकार महादेवी वर्मा की रचनाओं नीहार से प्रांरभ होकर दीपशिखा, हिमालय, सांध्यगीत,रश्मि, नीरजा, यामा में संकिलत किया। इन सभी कृतियों में प्राकृतिक चित्रण देखा जा सकता है । वर्तमान युग में नई कविता का बोलबाला है । इन कवियों ने प्रकृति की उपेक्षा नहीं की। तथापि उनके प्रस्तुतीकरण का कुल अलग ढंग है फिर भी उन्होनें रात, दिन, बंसत, धूप, वर्षा आदि का वर्णन किया है । अपनी प्रेमिका की, या बीते यौवन की याद इन प्राकृतिक क्रियाओं को देखकर इन कवियों के हृदय में भी उदित होती है ।

यह जुलाई की हल्की –
*उभरती धूप—और आसमान में छितरी—काली घटाएं*
*पता नही क्यों—याद दिला रही है उस नव यौवन की जिसने*
*अभी अभी –अपने उलझे बाल धोकर निचोडे है। "*

निष्कर्षत : यही कहा जा सकता है के छायावादी कवियों ने प्रकृति को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भावनाओं के चित्रण का आधार बनाकर कविता को अत्यंत मार्मिक बनाया है और साहित्य का प्रकृति के साथ अटूट संबंध को पूर्ण रूपेण स्थापित किया है । साहित्य से मानव और मानव से प्रकृति कभी अलग नहीं हो सकता है । दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है | प्रकृति का अनुपम सौन्दर्य रचनाकारों को सदैव प्रभावित करता रहा है |

**संदर्भ :**


1. किरण, डॉ वत्सला.(2015).महादेवी वर्मा के साहित्य में प्रकृति चित्रण.जयंती पब्लिकेशनस. वडपलनी. चेन्नई.
2. डॉ मधुधवन. (2010).हरिऔध के साहित्य में प्रकृति सौंन्दर्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
3. शेष, डॉ वासुदेवन. (2017).आधुनिक कवियों के काव्य पर समालोनात्मक दृष्टि.हिंदी साहित्य में प्रकृति चित्रण.(सं).शासुन जैन कालेज.बोध प्रकाशन.चैन्नई.
4. गुप्ता, डॉ किरण कुमार.हिंदी काव्य में प्रकृति चित्रण.बोध प्रकाशन ,चैन्नई.पृष्ठ 6

# अमेरिकी हिंदी साहित्य और अमेरिका में हिंदी शिक्षण संभावनाएं और चुनौतियाँ

**इला प्रसाद**
अमेरिका
ila_prasad1@yahoo.com

भारत से इतर देशों का हिन्दी साहित्य बृत्तहर हिन्दी साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंश होते हुये भी अपनी विशिष्ट भाषा, शैली और स्वरूप की वजह से उससे अलग नजर आता है। कहा जा सकता है कि प्रवासी भारतीयों का लेखन हिंदी साहित्य में एक अलग आयाम जोड़ता है। विदेशों में रह रहे भारतीयों के जीवन के तमाम पहलुओं को रेखांकित करने वाला यह साहित्य वह वातायन है जिससे भारत में रहने वाला पाठक वहाँ रह रहे भारतीयों के जीवन संघर्ष से परिचित होता है। वह मात्र व्यावसायिक दृष्टिकोण से परोसा जा रहा खबरों का पुलिंदा नहीं वरन साहित्य है जो सूचना तकनीक के प्रसार से सिमटती जा रही इस दुनिया में अब भी जीवन जीने की कला सिखलाने की सामर्थ्य रखता है। विदेशों से आ रहा हिन्दी साहित्य विदेशों में रह रहे भारतीयों की अस्मिता की पह्चान भी है। वह चाहे अमेरिका का हिन्दी साहित्य हो या किसी अन्य देश का- अपनी विशिष्ट पहचान लिये भारतेतर देशों का यह हिन्दी साहित्य अब विस्तृत शोध का विषय बन चुका है। (१-२)

अमेरिका में भारतीय समुदाय का विस्थापन नितांत स्वैच्छिक था न कि गिरमिटिया मजदूरों की तरह आरोपित। उनका प्रवास नितांत व्यक्तिगत और व्यावसायिक कारणों से हुआ किंतु जो टकराहट जीवन मूल्यों की यहाँ थी वह भारतवंशियों के लिए अक्सर ही विषम स्थिति पैदा करती रही। अपने आप को इस भिन्न परिवेश में समायोजित करने के प्रयत्न में किया गया सृजन ही अमेरिकी हिंदी साहित्य की आधाराशिला बना।

साठ के दशक से अमेरिकी हिन्दी साहित्य का इतिहास शुरू होता है। उस काल में सृजनरत रचनाकार सोमा वीरा, उषा प्रियम्वदा एवं सुनीता जैन की रचनायें उस काल का सशक्त परिदृश्य प्रस्तुत करती हैं। जीवन शैली की भिन्नता, सोच की भिन्नता और भाषागत भिन्नता एक किस्म का कल्चरल शाक देती रहीं। जीवन मूल्यों की इस टकराहट की अनुगूंज इनके लेखन में स्पष्ट सुनाई देती है। उषा प्रियम्वदा, जो अभी भी अमेरिका में हैं और सृजनरत हैं, का उपन्यास "भया कबीर उदास" अमेरिका में रह रही, स्तन कैंसर से जूझती स्त्री के मनोभावों का चित्रण करता है एवं अमेरिकी पृष्ठभूमि पर रचे गये उनके साहित्य की नवीनतम और शायद अंतिम कड़ी है।

अमेरिकी हिन्दी साहित्य के पटल पर कई ऐसे नाम हैं जिनके उल्लेख के बिना यहाँ के साहित्य का इतिहास पूरा नहीं होगा। आरम्भिक दौर में इन्दुकान्त शुक्ल, वेद प्रकाश बटुक, रामेश्वर अशान्त, श्याम नारायण शुक्ल, शालीग्राम शुक्ल, वेद प्रकाश सिंह अरुण, गुलाब खंडेलवाल,प. भूदेव शर्मा, सुरेन्द्र कुमार तिवारी,विजय कुमार मेहता, हिमांशु पाठक, आदि कई नाम हैं जिनकी अपनी भूमिका यहाँ के साहित्य को मंच प्रदान करने में भी रही। अमेरिकी पृष्ठभूमि पर गद्यलेखन के क्षेत्र में अपने सशक्त लेखन के लिये एक चर्चित नाम रहा – कमला दत्त। उनकी सत्तर के दशक में लिखी गईं, आरम्भिक कहानियाँ – "मछली सलीब पर टंगी," "अभिशप्त", "सिल्वो डाले ते नेपियाँ" आदि ही उनकी जगह साहित्य में सुनिश्चित कर देने के लिये काफ़ी रहीं।

इसी तरह उषादेवी विजय कोल्हटकर हैं जो मराठी एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में समान अधिकार से लिखती रहीं।अनुराधा आमलेकर और डा. विजया बापट भी मराठी और हिंदी की रचनाकार हैं | रमेश धुस्सा की "बहुत अच्छा आदमी" कहानी एक ऐसी कहानी है जो दो संस्कृतियों के संघर्ष को बखूबी चित्रित करती हैं । कई विधाओं में एक साथ सृजनरत सुषम बेदी का "हवन"- अमेरिकी पृष्ठभूमि पर लिखा गया है।इनके सिवा सुदर्शन प्रियदर्शिनी, उमेश अग्निहोत्री, इला प्रसाद, अनिल प्रभाकुमार, रेणु राजवंशी गुप्ता, सुधा ओम ढींगरा, स्वदेश राणा, अंशु जौहरी, अमरेन्द्र कुमार, राजश्री, रचना श्रीवास्तव आदि कई ऐसे नाम हैं जिनके लेखन से यहाँ के हिन्दी साहित्य का कोश निरतंर समृद्ध हो रहा हैएवं जो अमेरिकी हिन्दी साहित्य

भारत की स्थापित लेखिका पुष्पा सक्सेना पिछले दशक में अमेरिका आई हैं और उनकी कहानियों में भी अब अमेरिका अपने पूरे पन के साथ उपस्थित है। २००७ में न्यूयार्क में हुए विश्व हिंदी सम्मेलन में अमेरिका के रचनाकारों की विशिष्ट उपस्थिति रही थी। इसके साथ ही प्रवासी साहित्य के खाने में उनका वर्गीकरण आरम्भ हुआ और हाशिये पर ढकेलने के प्रयास भी हुए।(३)वे पूर्णत: सफ़ल नहीं हुए इसलिये कि इनमें से कुछ रचनाकारों का लेखन इतना सशक्त था कि वे विदेश की पृष्ठभूमि पर रचे जाकर भी हिंदी की मूल धारा के लेखन से होड लेते दीखते थे। यह स्थिति आज भी है और अमेरिकी के कई हिंदी साहित्यकार – सुषम बेदी, इला प्रसाद, अनिल प्रभा कुमार, सुधा ओम ढींगरा, अमरेन्द्र कुमार, अंशु जौहरी आदि अपनी विशिष्ट पहचान बना चुके हैं। अपने कथा एवं काव्य लेखन से भारत के पाठकों में अपनी गहरी पैठ बना चुकी इला प्रसाद के पहले ही उपन्यास "रोशनी आधी अधूरी सी" जो हिंदी का पहला कैम्पस नावेल है, को पाठकों और आलोचकों की व्यापक स्वीकृति मिली। यही स्थिति अनिल प्रभा कुमार एवं सुधा ओम ढींगरा की है जो कथा साहित्य के सिवा एकाधिक उपन्यास भी लिख चुकी हैं।(४-५)

**एक ओर जहाँ भारत में हिन्दी को कमजोर करने की साजिश चल रही है वहीं दूसरी ओर अमेरिका में बसा भारतीय समुदाय अपनी अगली पीढ़ी का भविष्य हिन्दी में देख रहा है। अमेरिका के कई शहरों में हिन्दू मंदिर हिन्दी शिक्षण केन्द्रों की भूमिका भी निभा रहे हैं। व्यक्तिगत स्तर पर भी कई लोग, जिनमें हिन्दी के लेखक भी हैं, इस महत कार्य में अपना योगदान दे रहे हैं। अमेरिका में हिन्दी का भविष्य अब भारतीयों की अगली पीढ़ी के हाथ में है।**

अमेरिकी हिन्दी कविता में अमेरिका के जीवन की विद्रूपताओं का अपने विशिष्ट अन्दाज में बेहद सशक्त चित्रण करने वाली अन्जना संधीर-जो अब भारत जा बसी हैं - की कवितायें एवं गजलें अलग से पहचानी जाती हैं। इसी तरह रेखा मैत्र अपनी छोटी-छोटी कविताओं में बड़ी बारीकी से इस परिवेश की एवं यहाँ के जीवन की विसंगतियों की कथा कहती नजर आती हैं। सुषम बेदी आरम्भ में एक सशक्त कवियित्री भी रही हैं। देखा जाय तो अमेरिकी हिन्दी कविता एवं गजल विधा में इनके अतिरिक्त धनंजय कुमार, गुलशन मधुर, राकेश खण्डेलवाल, अनूप भार्गव, अनंत कौर, देवी नांगरानी, शशि पाधा, कल्पना सिंह चिटनीस, इला प्रसाद, अनिल प्रभा कुमार, सुदर्शन प्रियदर्शिनी ,सुधा ओम ढींगरा, विशाखा ठाकेर, स्वदेश राणा , अंशु जौहरी,, बीना टोढी, अभिनव शुक्ल, रमनी थापर, अमरेन्द्र कुमार, अशोक व्यास , नरेन्द्र टंडन, विनीता तिवारी, सुरेश राय , सुभाष काक, मंजु मिश्रा, आस्था नवल, लावण्या शाह, बिन्दु भट्ट, अनिता कपूर , रचना श्रीवास्तव आदि कई रचनाकार निरंतर सृजनरत हैं। अमेरिका के जीवन की विसंगतियाँ एवं उससे जुड़े तमाम पहलू इनकी कविताओं/गजलों का भी विषय बने हैं| इनमें से कतिपय रचनाकारों ने भारत की पृष्ठभूमि पर रचनायें लिखी हैं, अब भी कईयों की भावभूमि भारत भी हैं किन्तु उनका लेखन अमेरिका के हिन्दी साहित्य का अविभाज्य अंग हैं क्योंकि भाषा, शिल्प, अभिव्यक्ति – इन तमाम दृष्टिकोणों से भी इनमें से कई रचनायें बेजोड़ हैं। वर्तमान में वह नास्टालजिया जो कतिपय रचनाकारों की आरम्भिक रचनाओं की मूळ ध्वनि रहा है, धीरे-धीरे अतीत की कथा होने को अग्रसर है। स्मरणीय तथ्य यह है कि अमेरिकन हिन्दी साहित्य अमेरिकी भारतीयों के जीवनानुभव पर आधारित है। यह भारत की अनुकृति नहीं बन सकता, न ही इसे ऐसा दिखलाने की कोई इच्छा यहाँ के रचनाकारों का अभीष्ट है। वे अपने तरीके से अपनी भाषा और संस्कृति की कथा कह रहे हैं जो अब न तो पूर्ण भारतीय है और न पूर्णतः अमेरिकी और जिसकी जगह अब विश्व साहित्य में है , न कि केवल भारतीय साहित्य में | यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि वर्ष २०२० में टैगोर युनिवर्सिटी, भोपाल द्वारा आयोजित आन लाइन कार्यक्रम "विश्व रंग" जिसमें विश्व के अट्ठारह देशों के साहित्यकारों ने भाग लिया, अमेरिका के रचनाकारों ने इस मंच पर भी अपनी अलग पहचान सुनिश्चित की।(६)

एक ओर जहाँ भारत में हिन्दी को कमजोर करने की साजिश चल रही है वहीं दूसरी ओर अमेरिका में बसा भारतीय समुदाय अपनी अगली पीढ़ी का भविष्य हिन्दी में देख रहा है। अमेरिका के कई शहरों में हिन्दू मंदिर हिन्दी शिक्षण केन्द्रों की भूमिका भी निभा रहे हैं। व्यक्तिगत स्तर पर भी कई लोग, जिनमें हिन्दी के लेखक भी हैं, इस महत कार्य में अपना योगदान दे रहे हैं। अमेरिका में हिन्दी का भविष्य अब भारतीयों की अगली पीढ़ी के हाथ में है।

अमेरिका में हिंदी के प्रचार- प्रसार के उद्देश्य से स्थापित पाँच प्रमुख संस्थाएं है - इंटरनेशनल हिंदी असोसिएशन , विश्व हिंदी समिति , विश्व हिंदी न्यास हिंदी यू एस ए एवं विश्व हिंदी ज्योति| विश्व हिंदी न्यास की "हिंदी जगत " पत्रिका जो अपने कलेवर के लिहाज से यहाँ से प्रकाशित सभी पत्रिकाओं में सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है ,अमरीका में बसे भारतीयों को मात्र अभिव्यक्ति का मंच प्रदान नहीं करती वरन भारत एवं अन्य देशों के उत्कृष्ट

साहित्य से भी जोड़े रखती है।इंटरनेशनल हिंदी असोसिएशन की पत्रिका "विश्वा " और अब बंद हो चुकी " सौरभ " जो अंतरराष्ट्रीय हिंदी समिति की पत्रिका है भी भारत वंशियों को साहित्यिक मंच देने के लिए आरम्भ हुई| हिंदी यू एस ए की "कर्मभूमि " पत्रिका मूलत: बाल रचनाकारों को मंच देती है। एक पत्रिका 'विभोम स्वर' भी है जो नार्थ कैरलाइना से निकलती है | इन्होंने न केवल अमेरिका के रचनाकारों को आत्माभिव्यक्ति का मंच प्रदान किया है अपितु भारत एवं अन्य देशों के रचनाकारों के लेखन से भी जोड़े रखा है।

विश्व हिंदी न्यास, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति और हिंदी यू एस ए ने बच्चों को हिंदी सिखाने का अपना सार्थक प्रयास जारी रखा है, अमेरिका के कई स्कूलों में हिंदी का शिक्षण इनके प्रयासों से आरम्भ हुआ है और इनके सदस्य व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर पर हिंदी - शिक्षण में लगे हुए हैं | हिंदी यू एस ए ने कई स्कूल खोले हैं जहाँ बच्चों को हिंदी सिखाने के साथ- साथ भारत की संस्कृति का भी ज्ञान कराया जाता है | बच्चों को भारत- दर्शन के लिए ले जाया जाता है जिससे वे भारत सम्बन्धी अपनी समझ बढ़ा सकें । अमेरिका में बसे भारतीयों के बच्चों की एक पूरी पीढ़ी है जिसे हिंदी यू एस ए ने हिंदी में साक्षर बनाया है | ये बच्चे हिंदी में लिखने के साथ कविता कहानी लिखने एवं अपने भावों को कुशलता पूर्वक व्यक्त करने में सक्षम हैं| इनके अतिरिक्त कई हिंदी लेखक - लेखिकाएं भी अपने -अपने स्कूल चला रहे हैं और व्यक्तिगत स्तर पर हिंदी के अध्यापन में रत हैं | भारत विद्या भवन, न्यूयार्क में भी भारतीय भाषाओं के शिक्षण की कक्षायें हैं| कहना न होगा कि ये सभी अपने -अपने तरीके से हिंदी का शिक्षण कर रहे हैं और उनमें पाठयक्रम या शिक्षण सम्बंधी एकरूपता शायद ही देखने को मिले।

अमेरिका में हिंदी को आधिकारिक तौर पर मान्यता भारत के स्वतंत्र होने के साथ ही मिल गई थी जब १९४७ में पेन्सिल्वानिया विश्वविद्यालय में हिंदी भाषा विभाग की स्थापना हुई। अमेरिका में विभिन्न भाषाओं का अध्ययन एक आवश्यकता थी जिसके कारण मात्र सामाजिक नहीं वरन इस देश की सामरिक सुरक्षा व्यवस्था से जुड़े थे। यह आवश्यकता समय के साथ बढ़ती गई और इसका चरम २००१ में ९/११की घटना के बाद देखने को मिला। अमेरिका में कई भाषाओं, जिनमें अरबी, चीनी, उर्दू और हिंदी प्रमुख थे, के शिक्षण की व्यवस्था के लिये सरकारी अनुदानों से गम्भीर प्रयास आरम्भ हुए। अमेरिका सरकार की पहल पर आरम्भ हुई इस योजना का नाम था- स्टारटाक, जो स्टार्ट टॉकिंग का संक्षिप्त रूप है |(7) पूरे देश में हिंदी भाषा के शिक्षण में एकरूपता लाने के उद्देश्य से यह प्रशिक्षण का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। अन्य कई भाषाओं के साथ इसके अंतर्गत शिक्षकों को हिंदी को एक विदेशी भाषा की तरह पढ़ाने का प्रशिक्षण दिया गया। इसके प्रयासों एवं अनुदान से कुछ स्कूलों में टीचरों की नियुक्ति हुई एवं हिंदी का शिक्षण आरम्भ हुआ। विश्वविद्यालयों में भी हिंदी- उर्दू फ़्लैगशिप प्रोग्राम शुरू हुए। लेकिन बीतते समय के साथ स्कूलों में हिंदी शिक्षण का कार्यक्रम कुछ ही स्कूलों तक सिमटकर रह गया और विश्वविद्यालयों में भी जो हिंदी- उर्दू फ्लैगशिप प्रोग्राम आरम्भ हुए उनमे से कुछ बंद हो गए। कारण यह था कि जिन राजनीतिक कारणों से कुछ विशेष भाषाओं का शिक्षण आरम्भ हुआ था उनमे हिंदी या भारतीय भाषाएँ नहीं आती थी| इन भाषा -भाषियों से कोई खतरा नहीं था | दूसरी वजह यह कि जिस तरह चीन की सरकार ने चीनी भाषा की पढ़ाई के लिए आर्थिक सहायता दी , वैसी कोई सहायता भारत सरकार की ओर से नहीं आई | भारतवंशियों के अनुदान से जहाँ यह पढ़ाई आरम्भ हुई, वहाँ अभी भी चल रही है | संख्या की दृष्टि से अब भी सौ के आसपास शिक्षण संस्थानों में- जिसमें विश्वविद्यालयों की संख्या अधिक है, हिंदी का शिक्षण हो रहा है।(8) लेकिन अब भी प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर हिन्दू मंदिर बड़े पैमाने पर भाषा की पढ़ाई के केंद्र बने हुए हैं | यह स्थिति कमोबेश पूरे अमेरिका में है | मंदिर भाषा शिक्षण का प्रमुख केंद्र बने हुए हैं | आर्य समाज का दयानन्द आर्य विद्यालय हमेशा से संस्कृति, सनातन धर्म और हिंदी , संस्कृत के शिक्षण में अग्रणी रहा है और इसकी कई शाखाएं पूरे अमेरिका में है। ह्यूस्टन स्थित आर्यसमाज के डी ए वी स्कूल के डायरेक्टर के प्रयासों से हिंदी की मानक पाठयपुस्तकें तैयार की जा रही हैं।यह काम भी अभी पूरा नहीं हुआ है।

विश्वविद्यालय स्तर पर कई राज्यों में हिंदी की पढाई जारी है। अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑव इंडियन स्टडीज जिसकी स्थापना १९६१ में हुई थी वस्तुत: एक गैर सरकारी संस्था है | यह संस्थान बारह भारतीय भाषाओं - पाली/ प्राकृत, हिंदी बंगला ,मराठी, कन्नड़, तमिल , गुजराती, मलयालम, संस्कृत, पंजाबी आदि के अध्ययन के प्रोग्राम चलाता है | वर्त्तमान में इससे अमेरिका के ८९ कालेज एवं यूनिवर्सिटियाँ जुडी हुई हैं| इसके बोर्ड आव ट्रस्टी में अमेरिका के विभिन्न विश्वविद्यालयों में कार्यरत कई भारतवंशी प्रोफ़ेसर पदासीन हैं | (9) इसके अतिरिक्त अमेरिका में कई राज्यों में विश्वविद्यालय स्तर तक के हिंदी का पाठ्यक्रम है | राइस यूनिवर्सिटी में आनर्स तक हिंदी का पाठ्यक्रम है | कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क विश्ववद्यालय, पेंसिलवानिया विश्वविद्यालय, येल , स्टोनीब्रूक, ड्यूक , कैलिफोर्निया बर्कले आदि कई विशिष्ट विश्वविद्यालय भी लम्बे समय से हिंदी का पाठ्यक्रम चला रहे हैं | किन्तु भारतवंशी समुदाय ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है| उदाहरण के लिए ह्यूस्टन विश्विद्यालय में हिंदी विभाग गैरसरकारी प्रयासों से सामने आया| ह्यूस्टन मे ही बेलायर हाई स्कूल में, ह्यूस्टन के आर्य समाज के प्रयासों से सत्तर के दशक से हिंदी की पढ़ाई हो रही है | रटगर विश्वविद्यालय मे विश्व हिंदी न्यास के अनुदान से हिंदी का पाठ्यक्रम शुरू हुआ| ह्यूस्टन विश्वविद्यालय में सीताराम फाउंडेशन, ह्यूस्टन ने हिंदी के लिए स्कॉलरशिप शुरू की है|

हिंदी फिल्मों के उल्लेख के बिना यह आलेख अधूरा रहेगा | बॉलीवुड फिल्मों का शौक़ीन मात्र भारतीय समुदाय ही नहीं वरन अमेरिकी समुदाय भी है| अमेरिका आये भारतवंशियों ने बहुत जल्द ही यह समझ लिया कि ये फिल्में भाषा सीखने सिखाने का महत्वपूर्ण माध्यम हो सकती हैं | हिंदी फिल्में यहाँ विश्वविद्यालयों के हिंदी के पाठ्यक्रम में शामिल हैं और फ़िल्मी गाने हिंदी सीखने का माध्यम हैं | इस दिशा में पहल अंजना संधीर ने की थी और उनकी पुस्तक " लर्न हिंदी एन्ड हिंदी फिल्म सांग्स"(10) आज भी बेहद लोक प्रिय है|

अमेरिकी जनता और अमेरिकी भारतीयों की अगली पीढ़ी जो इन संस्थाओं,विश्वविद्यालयों में हिंदी को एक विषय के रूप में पढ़ रही है और अमेरिका में उसके माध्यम से रोजगार के अवसर तलाश रही है, हॉस्पिटलों, कोर्ट एवं अन्य व्यवसायों में दुभाषिये की भूमिका में नजर आती है, हिंदी शिक्षण के क्षेत्र में भी अमेरिकी मूल के या अमेरिकी भारतीय जगह ले रहे हैं | उन पर ही हिंदी का भविष्य टिका है| देखना यह है कि इनमे से कितने हिंदी भाषा को अभिव्यक्ति के अगले स्तर तक ले जाते हैं और लेखन के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाते हैं | यह तो निश्चित है कि अमेरिका में हिंदी के स्वरूप में वास्तविक परिवर्तन वहीं से आरम्भ होगा और जिस तरह अमेरिकी अंगरेजी अब ब्रिटिश अंगरेजी से भिन्न और स्वतंत्र सत्ता रखती है उसी तरह अमेरिकी हिंदी भी भारत की हिंदी से अलग हो जायेगी | वह समय अभी दूर है किंतु इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता |

********

**संदर्भ:**


1. "अमेरिका के हिंदी कथाकार";इला प्रसाद, "विश्व मंच पर हिंदी: नये आयाम, आठवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन स्मारिका , पेज ३५, २००७ ईसवी, प्रकाशक ;विदेश मंत्रालय भारत सरकार, भारतीय विद्या भवन यू एस ए
2. अमेरिका का हिंदी साहित्य एवं अमेरिका में हिंदी का भविष्य: इला प्रसाद, विश्व हिंदी पत्रिका,विश्व हिंदी सचिवालय मारीशस, २०१
3. ""दूर देश के हिंदी लेखक" इला प्रसाद, जनसत्ता, अप्रैल २०१४
4. प्रवासी महिला उपन्यासकार( रचना प्रक्रिया एवं आलोचना); सम्पादक डा. एम फिरोज खान, पेज १३३-१४९, विकास प्रकाशन, कानपुर, 2020
5. "भारतीय मन और प्रवासी महिला कहानीकार" सम्पादक डा. एम फिरोज खान, अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय, विकास प्रकाशन, कानपुर, 2020
6. www.actfl.org
7. "अमेरिका में हिंदी: एक सिंहावलोकन": सुषम बेदी, अभिव्यक्ति- हिंदी वेबजीन, दिसम्बर २०१०
8. vishwarang.com (विश्व रंग अमेरिका: रवीन्द्रनाथ टैगोर युनिवर्सिटी, भोपाल वेब साइट ६-८ नवम्बर २०२०)
9. https://www.indiastudies.org/about-aiis/organization-administration/
10. लर्न हिंदी एंड हिंदी फ़िल्म सांग्स: डा. अंजना संधीर, (२००३) पार्श्व पब्लिकेंशन्स, अहमदाबाद ३८०००१


## हिन्दी पर महापुरुषों के विचार

हिन्दी संस्कृत की बेटियों में सबसे अच्छी और शिरोमणि है।

- ग्रियर्सन

संस्कृत माँ, हिन्दी गृहिणी और अंग्रेजी नौकरानी है।

- डॉ. फादर कामिल बुल्के

राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है।

- महात्मा गाँधी

हृदय की कोई भाषा नहीं है, हृदय-हृदय से बातचीत करता है।

- महात्मा गाँधी

हिंदुस्तान के लिए देवनागरी लिपि का ही व्यवहार होना चाहिए, रोमन लिपि का व्यवहार यहाँ हो ही नहीं सकता।

- महात्मा गाँधी

हिन्दी भाषा के लिए मेरा प्रेम सब हिन्दी प्रेमी जानते हैं।

- महात्मा गाँधी

हिन्दी भाषा का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है।

- महात्मा गाँधी

राष्ट्रीय व्यवहार में हिन्दी को काम में लाना देश की शीघ्र उन्नति के लिए आवश्यक है।

- महात्मा गाँधी

अखिल भारत के परस्पर व्यवहार के लिए ऐसी भाषा की आवश्यकता है जिसे जनता का अधिकतम भाग पहले से ही जानता-समझता है।

- महात्मा गाँधी

# विभाजन की त्रासदी और स्त्री

•प्रो. शंभु गुप्त
अवकाश प्राप्त, महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र

**सारांश**

भारत-विभाजन की त्रासदी का जेंडरगत अध्ययन : एक आवश्यक लेखकीय कार्यभार

भारत-विभाजन की ऐतिहासिक घटना का स्त्रियों की जिंदगियों पर क्या प्रभाव पड़ा; यह देखना दरअसल एक त्रासदी से गुज़रने जैसा अनुभव है। वैसे तो किसी भी देश के विभाजन का उस देश के प्रत्येक व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है, लेकिन स्त्रियों पर इसके कुछ भिन्न प्रभाव एवं परिणाम देखे जाते हैं. ये प्रभाव व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आर्थिक सब प्रकार के हो सकते हैं. इन परिणामों और प्रभावों का जेंडरगत अध्ययन एक आवश्यक लेखकीय कार्यभार है.

यह अध्ययन इन चार विषय-विस्तार बिन्दुओं के माध्यम से सम्पन्न किया जाएगा-

1. भारत का विभाजन किन विशेष स्थिति-परिस्थितियों के बीच हुआ? ये स्थिति-परिस्थितियाँ कैसे उत्पन्न हुईं और इनके पीछे कौन लोग थे. इसके अतिरिक्त यह भी कि भारत-विभाजन के क्या परिणाम हुए?
2. विभाजन की त्रासदी एक त्रासदी कैसे है? ऐसी ट्रेजेडी दुनिया में दूसरी नहीं है?
3. विभाजन के दौरान स्त्री पर हुई हिंसा के विविध रूपों का विस्तृत विवरण और विश्लेषण ?
4. विभाजन की त्रासदी का स्त्रियों के जीवन पर पड़े प्रभाव का मूल्याङ्कन करना|

विभाजन की त्रासदी का सबसे सांघातिक और शर्मनाक पहलू स्त्रियों पर की गई बेतरह हिंसा है। विभाजन के समय और उसके बाद स्त्रियों पर की गई हिंसा को, उसके विभिन्न रूपों को विशेष रूप से उद्घाटित किया जाना प्राथमिक तौर पर ज़रूरी है. यहाँ हमने इस पर ध्यान देने की कोशिश की है।

**बीज शब्द**

भारत-विभाजन जेंडरजेंडरगत अध्ययन इतिहास स्त्रीवाद त्रासदी स्त्री पर हिंसा साम्प्रदायिक, ध्रुवीकरण, पितृसत्ता, यौन हिंसा, मुस्लिम लीग, हिन्दूवाद, पाकिस्तान, शरणार्थी, मुहाज़िर, स्थान्तरण, साम्प्रदायिक दंगा, भारतीय उपमहाद्वीप, धार्मिक अतिवाद,पार्टीशन, कुलदीप नैयर,DeccanHerald 1947, ऑनर किलिंग, युद्धबंदी, बलात्कार, विस्थापन, सामूहिक आत्महत्या, इतिहास का पुनरवलोकन इत्यादि |

हिंसा के अतिरिक्त एक अनवरत जारी त्रासदी के बतौर यहाँ विभाजन को लिया गया है। साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की प्रथा और परम्परा आज भी लगातार जारी है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि विभाजन की प्रक्रिया आज सत्तर साल के बाद भी जारी है!इस सम्बन्ध में पिछले कुछ वर्षों में इस विषय पर हुए ताज़ातरीनविचार-विमर्श, संगोष्ठियों इत्यादि में हुई चर्चाको विशेषतः देखा जा सकता है। हमने इसी विचार-विमर्श और चर्चा को अपना सान्दर्भिक आधार बनाया है. एतत्संबंधीसामग्री नेट तथा कुछ इधर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में उपलब्ध है। समकालीन हिन्दी कविता एवं कहानीमें इस मुद्दे पर पर्याप्त सामग्री मौजूद है। बिना साहित्यिक संदर्भों के कोई विषय-विश्लेषण अधूरा ही रहता है।

## विभाजन की घटना और जेंडर का सन्दर्भ

प्रास्थानिक तौर पर हमें यह मान कर चलना चाहिए कि देश में घटी किसी भी घटना का प्रभाव स्त्रियों पर भिन्न प्रकार से पड़ता है; वह घटना चाहे फिर राजनीतिक हो,आर्थिक हो, सांस्कृतिक हो, धार्मिक हो या किसी और प्रकार की। स्त्रियों पर उसका एक भिन्न ही प्रभाव पड़ता है। सत्तर साल पहले घटी भारत-विभाजन की घटना का भी स्त्रियों पर सबसे अलग प्रभाव पड़ा था। इस प्रभाव के मूल में जेंडर की स्थितियाँ हैं.

भारत जैसे परम्परावादी, रूढ़िवादी, पिछड़े, पौराणिक समाजों में पितृसत्ता की स्थितियाँ अत्यंत दृढ़ और बहुव्यापी हैं। स्त्री के प्रति भारत जैसे देशों में अभी भी देहवादी, सेक्सवादी, लम्पट रवैया अधिकतर देखने में आता है। इसके आलावा स्त्री को उसकी जाति, वर्ग, कुटुम्ब, देश इत्यादि का प्रतीक-प्रतिनिधि मानकर उसे अपमानित, ज़लील, पददलित कर उसकी पूरी जाति, वर्ग, कुटुम्ब, देश इत्यादि से 'बदला' लिया जाता है। स्त्री को निशाना बनाकर बदला लेने की यह प्रथा और परम्परा पूरी दुनिया में बहुत पुरानी और बहुप्रचलित है। आज भी इसके उदाहरण पर्याप्त देखने में आते हैं।

विभाजन के समय भारत और पाकिस्तान दोनों ही देशों में एक-दूसरे के देशों की औरतों के साथ बेतरह की गई यौनिक बदसलूकियाँ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। साम्प्रदायिक दंगों में भी स्त्रियों के साथ इसी तरह की यौन हिंसा आए दिन देखने में आती है। बलात्कार, सामूहिक बलात्कार, अपहरण, अगवा कर इधर-उधर कर देना इत्यादि वारदातें स्त्रियों के साथ होती ही रहती हैं। विभाजन के समय ऐसी घटनाएँ काफी बड़ी संख्या में हुईं और स्त्रियाँ इनकी भीषण शिकार हुईं। इस सब पर विज्ञ और विस्तार-पूर्वक विचार किए बिना विभाजन की त्रासदी का असल रूप पहचान में न आएगा। यौनिकता स्त्री की यदि सबसे बड़ी विशेषता है तो पितृसत्ता के मानकों के तहत यही उसकी सबसे बड़ी कमी और कमजोरी भी बन जाती है!

## भारत-विभाजन की स्थिति-परिस्थितयाँ और परिणाम अर्थात् इन्सानी खून से रंगा पन्ना

भारत का विभाजन माउन्टबेटन योजना के आधार पर तैयार भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 के तहत हुआ था। इस अधिनियम में कहा गया है कि भारत व पाकिस्तान स्वायत्त बना दिए जाएँगे और ब्रिटिश सरकार उन्हें सत्ता सौंप देगी। 14 अगस्त को पाकिस्तान अधिराज्य और 15 अगस्त को भारतीय संघ की स्थापना की गई। इसी के साथ बंगाल प्रान्त को पूर्वी पाकिस्तान और भारत के पश्चिम बंगाल राज्य में बाँट दिया गया.

अंग्रेजों ने भारत में प्रारंभ से ही फूट डालो राज करो की नीति अपनाई। उनकी यह नीति धर्म के मामले में सबसे घातक थी. उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को इस सीमा तक परस्पर विरोधी बना दिया कि वे एक साथ रहने के विचार के ही दुश्मन हो गए। मुहम्मद अली जिन्ना ने लाहोर में 1940 में मुस्लिम लीग के सम्मेलन में साफ-साफ कहा कि वे दो अलग राष्ट्र चाहते हैं।हिंदूवादी नेताओं और संगठनों ने भी धार्मिक अलगाव को बढ़ाने में भरपूर योगदान किया। कांग्रेस और विशेषतः महात्मा गाँधी इसके विरोधी थे; हालाँकि आगे चलकर दोनों को इसे स्वीकार करना पड़ा।

विभाजन के समय पूरे देश में भयंकर दंगे-फ़साद हुए।सीमावर्ती प्रान्तों और इलाक़ों में भारी नरसंहार हुआ।इस विभाजन में लाखों की संख्या में आबादियों का स्थान्तरण हुआ। लाखों की संख्या में स्त्री-पुरुष शरणार्थी बने। भारत में तो पाकिस्तान से आए शरणार्थी शीघ्र घुलमिल गए लेकिन पाकिस्तान गए मुसलमान आज भी वहाँ 'मुहाज़िर' कहलाते हैं और उन्हें पराया समझा जाता है।

विभाजन के समय कई लाख लोग मारे गए थे। कुछ तो दंगा-फ़सादों में तथा कुछ सीमाओं पर स्थान्तरण के समय।लाखों औरतें बलात्कार, हत्या, हिंसा की शिकार हुईं।अनगिनत स्त्रियाँ विक्षिप्त हो गईं।बहुतों का अपहरण हुआ और गायब कर दी गईं। धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर देश के बँटवारे ने इन दोनों देशों के बीच एक ऐसी राजनैतिक खाई पैदा की कि आज भी सम्बन्धों में खटास क़ायम है।दोनों देशों की आम जनता एक-दूसरे को बहुत चाहती है,दोनों देशों की आम जनता के बीच अनेक प्रकार के पारिवारिक व अन्य सम्बन्ध अभी भी ज़ारी हैं, किन्तु दोनों देशों की राजनीतिक ज़मात दोनों देशों के बीच की खाई को पटने नहीं देना चाहती। विभाजन की त्रासदी का सबसे अधिक अभिशाप दोनों तरफ़ की स्त्रियों ने झेला। जिसके अन्तर्गत स्त्रियों का अपहरण, बलात्कार, अन्य अनेक प्रकार की यौन-हिंसा और अत्याचार इत्यादि बड़े पैमाने पर अवघटित हुए।विभाजन के समय, जब आबादियों का बड़े पैमाने पर परस्पर स्थानांतरण हुआ, दंगे-बलवे हुए, तो उनमें औरतों को ख़ास तौर से निशाना बनाया गया था।

विभाजन की त्रासदी के परिणामों का लेखन और अंकन इतिहास की किताबों में तो मिलता ही है, हिंदी, उर्दू और अंग्रेजी के भारतीय एवं पाकिस्तानी साहित्य में भी बराबर मिलता है। इन भाषाओं में भारत और पाकिस्तान दोनों ही देशों में प्रभूत संख्या में ऐसे साहित्य की रचना हुई है, जो देश-विभाजन की विषयवस्तु को आत्मसात किए हुए है।इनमें उपन्यास, कहानी, कविता, रिपोर्ताज़ आदि विधाओं में मुख्यतः लिखा गया। इन साहित्यिक कृतियों में बहुविध रूप से विभाजन की त्रासदी पर लिखा गया है। विभाजन के कारण, विभिन्न राजनैतिक पार्टियों की उसमें भूमिका, विभिन्न तबकों की दुरभिसंधियाँ, कूटनीतियाँ, अंग्रेज़ी हुक्मरानों की चालाकियाँ, बड़े राजनैतिक नेताओं की गतिविधियों इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन इन साहित्यिक कृतियों में मिलता है। इन साहित्यिक कृतियों में विभाजन के आस-पास का समय जैसे मूर्तित हो गया है। उक्त विषय-सन्दर्भों के अतिरिक्त साम्प्रदायिक दंगे, दंगों की क्रूरता, लोगों का वहशीपन भी बड़े पैमाने पर इन कृतियों में चित्रित हुआ है।यह भारतीय उपमहाद्वीपके लम्बे इतिहास का इन्सानी खून से रंगा पन्ना है, जिसकी याद बार-बार ताज़ा हो जाती है।

## भारत विभाजन की अन्तहीन और अनवरत त्रासदी : पहले से ज़्यादा बढ़ा धार्मिक अतिवाद

भारत विभाजन की त्रासदी विश्व इतिहास की गम्भीरतम घटनाओं में से एक रही है। इस विभाजन से किसे क्या मिला? इस मुद्दे पर विचार करते हैं तो इतिहास की तरफ़ देखकर भारी पीड़ा से मन भर जाता है। प्रसिद्ध पत्रकार और पूर्व राज्यसभा सांसद कुलदीप नैयर; जो स्वयं सियालकोट से विस्थापित होकर भारत आए थे;ने आज से लगभग तीन साल पहले के लिखे अपने एक लेख 'The tragedy of Partition' में लिखा है कि जब उन्होंने आज़ादी मिलने (यानी विभाजन) के 32 दिन बाद अपने घर से चलकर सीमा को पार किया तो हालाँकि हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े और लूटपाट तो बन्द हो गए थे लेकिन मैंने देखा कि अपने छोटे-मोटे सामान को अपने सिर पर लादे इधर-उधर होते अनेक स्त्री-पुरुषों के चेहरों पर अभी भी दर्द की लकीरें थीं। उनके चेहरे तनाव से ग्रस्त थे। उनके पीछे-पीछे उनके डर से सहमे हुए बच्चे चले जा रहे थे! (द्रष्टव्य: The Express TRIBUNE; कराची, पाकिस्तान; 15 अगस्त, 2014)। आगे इस लेख में उन्होंने लिखा है कि "विभाजन की त्रासदी इतनी गहरी है कि इसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता. ××× यह ग्रीक ट्रेजेडी की तरह थी." (वही)। इस त्रासदी का सबसे भयावह पक्ष यह था कि "हिन्दू और मुसलमान दोनों ईश्वर में आस्था के नाम पर, ईश्वर और अल्लाह का नाम- 'हर-हर महादेव'तथा 'या अली'- लेते हुए एक-दूसरे के तलवार और बरछी घौंप रहे थे." (वही)। इस लेख में उन्होंने यह भी लिखा कि विभाजन में हुई हिंसा और क्रूरता के सबसे अधिक शिकार दोनों ही तरफ़ की स्त्रियाँ और बच्चे हुए। (वही)।

भारत-विभाजन एक अन्तहीन और अनवरत त्रासदी के बतौर सामने आता है। इतिहासकार सलिल मिश्र ने 12 अगस्त 2012 के DeccanHerald (SundayHerald) में प्रकाशित अपने 'The tregedy of Partition' शीर्षक लेख में लिखा है कि भारत का विभाजन एक अन्तहीन और निरन्तर जारी रहने वाली त्रासदी है।यह दरअसल एक प्रक्रिया है, जो 1947 में तो केवल शुरू हुई थी; वस्तुतः यह आज भी जारी है- "विभाजन कोई अचानक घटी घटना नहीं थी. इसके पीछे और आगे घटनाओं की एक लम्बी श्रृंखला है। इसके नतीज़े आज भी हम भुगत रहे हैं।"हिन्दी कथाकार स्वयं प्रकाश की एक कहानी कुछ समय पहले आई थी- 'पार्टीशन'। इस कहानी में अन्त में एक वाक्य आता है, जिसका तात्पर्य भी लगभग यही है- "आप क्या खाक हिस्ट्री पढ़ाते हैं? कह रहे हैं पार्टीशन हुआ था! हुआ था नहीं, हो रहा है, जारी है..." (www.hindisamay.com)। हिन्दी की एक बहुत ही महत्वपूर्ण साहित्यिक और वैचारिक पत्रिका 'पहल' में अभी-अभी एक युवा कवि सुधांशु फिरदौस (दिल्ली) की एक लम्बी कविता छपी है- 'सूखते तालाब की मुरगाबियाँ'। इस कविता में विभाजन की निरन्तरता को बड़ी ही हृदयहारी पीड़ा के साथ उकेरा गया है। कवि लिखता है कि भारत-विभाजन की कारणगत परिस्थितियाँ आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान हैं और ज़ारी हैं।साम्प्रदायिक वैमनस्य, इस वैमनस्य से पैदा होने वाले दंगे, क्रूरता और हिंसा, विभाजनकारी राजनीति; इत्यादि स्थितियाँ आज भी ज़ारी हैं और ज्यों की त्यों हैं-

कहाँ गए वे लोग<br>
जिनकी दुहाई हर सियासी पाप के पहले आज भी देते रहते हैं हुक्मरान<br>
सियासत तब भी देखती थी हिन्दू-मुसलमान<br>
सियासत अब भी देखती है हिन्दू-मुसलमान<br>
लगाओ नारे थोड़े और ज़ोर से मजलिसों में तकसीम के<br>
क्या हुआ जो तुमने पा लिया है अपना पाकिस्तान<br>
क्या हुआ जो हमने पा लिया हिन्दुस्तान

क्या अब नहीं होता कहीं कोई दंगा?
क्या अब नहीं होता कहीं कोई कत्लेआम?
क्या अब नहीं सोता भूखा कहीं कोई इन्सान!
(पहल;सम्पादक- ज्ञानरंजन, जबलपुर (म.प्र.); अंक 109; अक्तूबर 2017; पृष्ठ- 24)।

भारतीय समाज की अन्तःसंरचना दरअसल कुछ ऐसी है कि वहाँ किसी समुदाय को किसी से अलग नहीं किया जा सकता। यह एक साँझी संस्कृति वाला समाज है।धर्म के आधार पर किया गया कोई भी विभाजन यहाँ अव्यावहारिक और ट्रेजिक ही होगा।प्रसिद्ध पाकिस्तानी इतिहासकार आयेशाजलाल ने लिखा है कि "विभाजन बीसवीं शताब्दी के दक्षिण एशिया की सबसे केन्द्रीय ऐतिहासिक घटना है। यह एक ऐसा वाकया हुआ है, जिसकी न शुरुआत का पता चलता है, न अन्त का। उत्तर-औपनिवेशिक दक्षिण एशिया जब भी अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य पर विचार करेगा, विभाजन का उस पर ज़रूर असर दिखेगा।" (विलियम डेलरिम्पल; 'The Bloody Legacy of Indian Partition'; The NewYorker; 29 जून 2015)

विभाजन एक निरन्तर त्रासदी की तरह लगातार जारी रहा है। विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान छोटे-बड़े युद्धों में तीन बार आमने-सामने भिड़ चुके हैं। इसी क्रम में 1971 में पाकिस्तान का एक बार फिर विभाजन हुआ और बांग्ला देश बना।बांग्ला देश के निर्माण में भारत की केन्द्रीय भूमिका थी। विभाजन के बाद इन दोनों-तीनों देशों के बीच तनाव की स्थितियाँ लगातार बनी हुई हैं। पाकिस्तान और भारत के बीच कश्मीर एक अन्तहीन समस्या की तरह बना हुआ है। इसे लेकर कई युद्ध तो हो ही चुके हैं, इसके अलावा पिछले तीस साल से पाकिस्तान की सेना तथा ख़ुफ़िया एजेंसी आई एस आई द्वारा भारत के विरुद्ध प्रॉक्सी-वार निरन्तर चालू किया हुआ है।

विभाजन की त्रासदी अभी ज़ारी है। आज भी स्थितियाँ बदली नहीं हैं। बल्कि आज तो स्थितियाँ और ज़्यादा बदतर हुई हैं। आज की तारीख में दोनों देशों के बीच बातचीत ही बन्द है।विलिय मडेलरिम्पल ने अपने उक्त लेख के अन्त में लिखा है कि- "आज की स्थितियाँ भी ज़्यादा उत्साहवर्द्धक नहीं हैं। दिल्ली में इस समय एक ऐसी कट्टर दक्षिणपन्थी सरकार है जिसने इस्लामाबाद से बातचीत बरतरफ़ कर दी है। दोनों देश इस समय धार्मिक अतिवाद में पहले की अपेक्षा कहीं ज़्यादा गिरफ़्त में हैं। एक तरह से 1947 अभी भी ज़ारी है। वह ख़त्म नहीं हुआ है।"('The Bloody Legacy of Indian Partition'; The New Yorker का 29 जून 2015 का अंक)।

## विभाजन की हिंसा : धर्म ने किस क़दर लोगों को पागल बना दिया!

भारत-विभाजन की त्रासदी का सबसे दु:खद पक्ष है, इसमें हुई हिंसा का स्वरूप और चरित्र। यह हिंसा पूर्ववर्ती व आम हिंसा से अलग और विशिष्ट प्रकार की थी। विभाजन की इस हिंसा की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ रहीं, जो इसे अन्य प्रकार की हिंसाओं से अलग करती हैं-

1. यह हिंसा सामूहिक या समूहबद्ध थी।ठट्ठ के ठट्ठ एक-दूसरे पर टूट पड़ते थे और जो भी घरेलू क़िस्म का हथियार हाथ लगा, उसी से 'दुश्मन' पर पिल पड़ते थे; जैसे तलवार, फरसा, कुल्हाड़ी, लाठी, बरछी; आदि-आदि।

2. इस हिंसा में शामिल लोग पेशेवराना हत्यारे नहीं थे, अपितु साधारण लोग थे।ये अधिकांशतः वे लोग थे जो अमूमन शान्तिप्रिय होते हैं। लेकिन विभाजन के दंगों में ये अचानक वहशी हो उठे।

3. इतिहासकार सलिल मिश्र ने इस हिंसा के एक विशिष्ट चरित्र की ओर इंगित किया है। यह विशिष्ट चरित्र है- विकल्पहीनता।सलिल मिश्र ने अपने लेख 'ThetregedyofPartition' में लिखा है कि "उन्होंने किसी आवेश या घृणा के चलते सामने वाले को नहीं मारा। बल्कि इस अन्देशे में मारा कि यदि मैंने इसे नहीं मारा तो यह मुझे मार डालेगा। उन्होंने मारे जाने, ख़ुद मरने के स्थान पर सामने वाले को मारना ज़्यादा बेहतर समझा।" (DeccanHerald (SundayHerald); 12 अगस्त 2012)।

4. इस हिंसा का स्वरूप साम्प्रदायिक था। इसमें एक तरफ़ हिन्दू और सिख थे तो दूसरी तरफ़ मुसलमान थे। विशेषतः सीमावर्ती इलाक़ों में हिंसा ज़्यादा हुई। यह हिंसा एक-दूसरे को नेस्तनाबूद करने के मक़सद से की गई थी। यह हिंसा सामने वाले पर केवल हथियारों से हमले के रूप में नहीं थी बल्कि घर, दुकान, या जो कुछ सामने दिखे, उसे आग के हवाले कर देने, जलाकर राख कर देने के रूप में भी थी।यह जाति-संहार (genocide) के रूप में सामने आई। TheNewYorker के 29 जून 2015 के अंक में प्रकाशित अपने 'The Bloody Legacy of Indian Partition' शीर्षक लेख में William Dalrymple ने लिखा है कि "यह

परस्पर जाति-संहार नितान्त अप्रत्याशित था क्योंकि ऐसा पहले कभी हुआ नहीं था।"आगे उन्होंने यह भी लिखा कि इस हिंसा के कई रूप थे। इसने सारी हदें पार कर दीं- "यह हत्याकाण्ड बहुत ही प्रचण्ड था। इसमें सामूहिक हत्याएँ, आगजनी, बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन, सामूहिक अपहरण और बर्बर यौनिक हिंसा; यह सब-कुछ हुआ।" (http://www.newyorker.com/magazine/2015/06/29/the-great-divide-books-dalrymple)।

5. विलियमडेलरिम्पल ने अपने इसी लेख में निसिद हजारी द्वारा अपनी पुस्तक 'Midnight's Furies'में दर्ज़ इस तथ्य का उल्लेख किया है कि विभाजन की हिंसा की बर्बरता नाज़ियों के डेथकेम्पों से भी बदतर थी।निसिद हजारी ने लिखा है कि गर्भवती महिलाओं के स्तन काट दिए गए और उनका पेट चीर कर गर्भस्थ शिशु को निकालकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया तथा शिशुओं को सलाखों पर शब्दशः भूना गया।[सन 2002 के गुजरात दंगों में एक बार फिर ऐसे दृश्य दिखाई दिए थे।]।

हिंसा का यह रूप अन्य हिंसाओं से भिन्न है।यह हिंसा यहीं देखने को मिली। जब यह बवाल थम गया और चीजें पटरी पर आईं तो लोगों को आश्चर्य हुआ कि उन्होंने कैसे इतनी बर्बरता कर दी! भारतीय उपमहाद्वीप के लोग सामान्यतः शान्तिप्रिय हैं। किन्तु धर्म ने जैसे उन्हें हिंसक पागल बना दिया! विद्वानों का मत है कि दुनिया में कहीं भी अन्यत्र ऐसी विभाजन की हिंसा नहीं हुई।

## विभाजन की त्रासदी और स्त्री : हिंसा का जेंडरगत विभेद अर्थात् बर्बरता

विभाजन की त्रासदी का सबसे सांघातिक प्रभाव स्त्रियों पर पड़ा।इतिहास की किसी भी घटना का प्रभाव जेंडर कारणों से स्त्रियों और पुरुषों पर अलग-अलग पड़ता है। पुरुषों पर की जाने वाली और स्त्रियों पर की जाने वाली हिंसा में अन्तर होता है।पुरुषों पर जहाँ मारपीट, हत्या, अंग-भंग इत्यादि होती है तो स्त्रियों पर इनके साथ-साथ अपहरण, दासीत्व,एकल/सामूहिक बलात्कार, गर्भवती महिलाओं के भ्रूण की हत्या, पति एवं बच्चों की हत्या कर उन्हें निराश्रित कर देना; इत्यादि-इत्यादि भी होता है।किसी भी जातिवादी, साम्प्रदायिक, कबीलाई दंगे-फ़सादों में स्त्रियाँ इसी तरह की कुछ अलग क़िस्म की जेंडर हिंसा की शिकार होती हैं। भारत-विभाजन दुनिया की एक बड़ी त्रासदी मानी जाती है। इसे एक भयंकर त्रासदी बनाने में स्त्रियों पर हुई हिंसा का एक बड़ा हाथ है।स्त्रियों पर हिंसा, यौन-हिंसा, के जितने रूप यहाँ मिले, वे आज तक अन्यत्र कहीं नहीं देखे गए। भारत-विभाजन के समय स्त्रियों पर हुई व्यापक क्रूर हिंसा आज भी बहस और विचार का मुद्दा बना हुआ है।

विभाजन के दौरान स्त्रियों पर हुई हिंसा, अत्याचार, यौन-हिंसा, जेंडर के आधार पर हुए अत्याचार-अन्याय इत्यादि को निम्नलिखित बिन्दुओं में निबद्ध किया जा सकता है-

1. विभाजन के दौरान ऑनरकिलिंग के दृश्य भी दिखाई दिए थे। ये हिन्दुस्तान में नये युग के ऑनरकिलिंग के उदाहरण माने जा सकते हैं।इसके अन्तर्गत इस आशंका के डर से कि हमारे घर की औरतें कहीं किसी विधर्मी के हाथ न पड़ जाएँ, घर वालों ने ख़ुद अपने घर की स्त्रियों को मौत की नींद सुला दिया।सलिल मिश्र ने अपने लेख 'The tregedy of Partition' में लिखा है कि "पितृसत्तावादियों ने अपने घर की औरतों को, किसी और के द्वारा बेइज़्ज़त हो जाने से बचाने के लिए स्वयं ही मौत के घाट उतार दिया। उन्हें अपने घर की औरतों को मार देना एक मात्र सम्मानजनक विकल्प लगा होगा!" (DeccanHerald (SundayHerald; 12 अगस्त 2012)।उर्वशी बुटालिया ने मौखिक इतिहास-पद्धति पर लिखी गई अपनी किताब 'The Other Side of Silence: Voices from the Partition of India' में अपने घर की स्त्रियों को अपने ही घर के लोगों द्वारा मार दिए जाने का विस्तार से विवेचन किया है।Scroll.In पर प्रकाशित अपने एक लम्बे साक्षात्कार 'Men killed their own women and children during Partition, but freedom overshadowed that horror' में उन्होंने लिखा- "पुरुषों को इस बात का डर था कि जब वे बचकर भाग रहे होंगे, घोड़ों पर चढ़ रहे होंगे, हथियार चला रहे होंगे, तेजी से निकल जा रहे होंगे; तब स्त्रियाँ और बच्चे ऐसा नहीं कर सकेंगे।" (अशरफ, एजाज़: QuartzIndia; 14 अगस्त 2016)।उर्वशी बुटालिया ने अपनी इसी किताब में इस तथ्य को भी रेखांकित किया कि अपने घर की स्त्रियों को अपने ही घर के लोगों द्वारा मार दिए जाने का एक कारण यह भी रहा कि स्त्रियों को अपनी कौम/समाज/समुदाय की प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता रहा है। यह प्रतिष्ठा

बची रहे, दूसरी कौम/समुदाय/समाज के लोगों के हाथ वे न पड़ें, इसलिए उन्हें ख़ुद मार देना ही सबसे उचित है!उन्होंने कहा कि-"स्त्रियाँ अपने समुदाय की प्रतिष्ठा की प्रतीक मानी जाती रही हैं। आज भी मानी जाती हैं। मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं और सिखों में यह अधिक देखा जाता है। उन लोगों को डर था कि उनकी औरतें अपहृत की जा सकती हैं, उनका बलात्कार हो सकता है, जिसके परिणामस्वरूप वे दूसरे समुदाय के रक्त से संक्रमित हो जा सकती हैं।" (वही)।

2. स्त्रियों को अपनी जाति की अस्मिता या इज्ज़त का प्रतीक माना जाता है। ऐसी वैचारिक मान्यता परम्परागत रूप से प्रायः हर समाज में पाई जाती है कि किसी समाज से बदला लेना है या उसे कोई सबक़ सिखाना है या उसे उसके किए की सज़ा देनी है,तो उस समाज की स्त्रियों को कुचलना, उन पर अत्याचार, हिंसा, उन्हें ठिकाने लगाना शुरू कर दो; वह समाज ख़ुद-ब-ख़ुद तुम्हारे अंकुश-तले आ जाएगा!इस आधार पर हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदायों के धार्मिक और साम्प्रदायिक रूप से वहशी हुए पुरुषों ने विधर्मी समुदाय की स्त्रियों पर भरपूर और भयंकर यौन-हिंसा की। इसमें बलात्कार सबसे जघन्य हिंसा थी। यह क्रम दरअसल इस प्रकार हुआ- पहले धर-पकड़ फिर अपहरण, फिर बलात्कार और फिर अन्त में हिंसा की इन्तेहा के रूप में कहीं-कहीं उसकी हत्या! इस प्रक्रिया से विधर्मी समुदाय के साथ बदला पूरा हुआ! लगभग 70,000 स्त्रियों के साथ यह सब हुआ। सलिल मिश्र ने अपने उक्त लेख 'The tregedy of Partition' में एक स्थान पर लिखा है कि "लगभग 70,000 स्त्रियाँ पकड़ी गईं। उनका अपहरण हुआ और फिर उन पर बलात्कार हुआ। दूसरे धर्म की स्त्री का अपहरण उस धार्मिक समुदाय से बदला लेने का एक मान्य रास्ता बन गया था।" (DeccanHerald (SundayHerald; 12 अगस्त 2012)।उर्वशी बुटालिया ने भी अपनी किताब 'The Other Side of Silence: Voices from the Partition of India' में इस तथ्य को रेखांकित किया है। उन्होंने लिखा है कि "स्त्रियाँ अपने समुदाय की प्रतिष्ठा की प्रतीक मानी जाती रही हैं। आज भी मानी जाती हैं।"(द्रष्टव्य :अशरफ, एजाज़: QuartzIndia; 14 अगस्त 2016)।कुछ लेखक/ इतिहासकार ऐसी स्त्रियों की संख्या 1,00,000 तक मानते/ मानती हैं।

3. भारत-विभाजन में जनसंख्यायों के विस्थापन की परिघटना में स्त्रियों के साथ कई अमानवीय और क्रूर मज़ाक हुए। ऊपर जिन अपहृत स्त्रियों की चर्चा हुई, उनके साथ एक के बाद एक कई ज्यादतियाँ हुईं। जिन स्त्रियों का अपहरण किया गया था, उनका विवाह उनके अपहर्ताओं के साथ करा दिया गया। धीरे-धीरे जब इन स्त्रियों ने अपने नए घरों और माहौल में स्वयं को किसी भी तरह व्यवस्थित कर लिया; तो इन दोनों देशों की सरकारों ने अपनी-अपनी स्त्रियों कीअदला-बदली करते हुए वापस लेने का निर्णय लिया। सोचा जा सकता है कि यह निर्णय कितना अमानवीय और अपमानजनक रहा होगा। सलिल मिश्र ने स्त्रियों की इस अदला-बदली की तुलना दो देशों के युद्धबन्दियों की अदला-बदली से की है। (DeccanHerald (SundayHerald; 12 अगस्त 2012)।इस सारी कार्रवाई का असर इन स्त्रियों की मानसिकता पर बहुत घातक रूप में पड़ा। ये स्त्रियाँ दो-दो बार अपने स्थानों से विस्थापित हुईं। पहले तो अपने मूल घरों से और फिर उस परिवेश से जिसे उन्होंने (अपहरण और अपहरणकर्ता के साथ विवाह के बाद) अपना लिया था। अपने माथे पर अपहरण और बलात्कार का कलंक ओढ़े इन औरतों को अपने मूल घरों में पुनः खपने में भारी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा। अनेक लोगों ने उन्हें स्वीकार ही नहीं किया। अनेक कहाँ बिला गईं, पता ही नहीं चला! विभाजन की त्रासदी का यह वह कहर है, जो केवल औरत पर टूटा।(द्रष्टव्य : (DeccanHerald (Sunday Herald; 12 अगस्त 2012)।

4. स्त्रियों के इस दुतरफ़ा विस्थापन और अपनी जड़ों से उखड़ने की त्रासदी भारत-विभाजन की एक शर्मनाक परिघटना के रूप में सामने आती है। दोनों देशों की सरकारों द्वारा स्त्रियों की अदला-बदली एक हास्यास्पद कदम तो था ही, यह स्त्रियों के लिए एक नई लाइलाज़ समस्या लेकर उपस्थित हुआ। ऊपर कहा गया कि जब ये स्त्रियाँ अपने स्वदेश मूल घरों पर पहुँचीं तो इनके घरवालों ने इन्हें स्वीकार नहीं

किया।सोचने की बात है कि ये स्त्रियाँ फिर कहाँ गई होंगी! हो सकता है, कुछ ने कूएँ में छलाँग लगा ली हो, किसी ने रेल के नीचे कटकर जान दे दी हो, कोई अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठी हो और पागलखाने पहुँच गई हो, या किसी ने कुछ और कर लिया हो! यानी कि यह एक बड़ी भयावह स्थिति थी। उस समय के साहित्य में यह यथार्थ सशक्त रूप से चित्रित हुआ है। इस सम्बन्ध में सआदत हसन मंटो की कहानियाँ देखी जा सकती हैं।

विस्थापित और लौटी हुई स्त्रियों के साथ घरवालों का यह व्यवहार कितना अमानवीय और बर्बर था, इसकी भनक इस बात से भी मिलती है कि उस समय महात्मा गाँधी और प्रधानमंत्री जवाहरलालनेहरू दोनों ने अपने-अपने स्तर पर इस प्रवृत्ति की आलोचना की थी।गाँधीजी ने 7 दिसम्बर, 1947 की प्रार्थना-सभा में हिन्दू और सिख परिवारों और समुदायों द्वारा विभाजन के दंगों में अपहरण/बलात्कार की शिकार हुई स्त्रियों के पाकिस्तान से प्रत्यावर्तन के उपरान्त अंगीकार न किए जाने के मुद्दे पर बोलते हुए कहा था- "वह पति बर्बर है और वे माँ-बाप बर्बर हैं, जो अपनी पत्नी/पुत्री को वापस अपना नहीं रहे हैं। इसमें मेरे विचार से उस स्त्री का कोई क़सूर नहीं है। वे तो हिंसा की शिकार हुई हैं। इन स्त्रियों पर कलंक लगाना और इन्हें समाज में स्वीकार-योग्य न मानना अन्यायपूर्ण है।" (Mookerjea-Leonard, Debali; Cornell University,Ithaca, New York,USA; The Journal of Commonwealth Literature; Vol 40, Issue 2, 2005)।इसी तरह जवाहरलालनेहरू ने जनवरी 1948 को लगभग ऐसी ही एक अपील की- "यह एक बहुत ही आपत्तिजनक और ग़लत रवैया है। जो सामाजिक रीति-रिवाज़ इसका समर्थन करते है, वह भर्त्सनीय है। इन स्त्रियों को हमारे कोमल और प्यार-भरे संरक्षण की जरूरत है।" (वही)

असल में अपहृत स्त्रियों के लौटने के मामले में जेंडर के आधार पर दोहरा मापदण्ड अपनाया गया।तहमीना खान ने The Express Tribune (Blogs)में 13 अगस्त 2015 को प्रकाशित अपने लेख 'End of silence: A woman's narrative of the 1947 Partition' में भारत के Abducted Person's (RecoveryandRestoration) Act 1949 का सन्दर्भ लेते हुए लिखाथा- "16 वर्ष से ऊपर के पुरुषों को यह विकल्प दिया गया था कि वे अभी जहाँ हैं,वहाँ चाहें तो रह सकते हैं। लेकिन स्त्रियों पर राज्य द्वारा इसे थोप दिया गया था। उन्हें, यदि उनके कोई बच्चे हैं तो उन्हें वहीं छोडकर आने को कहा गया। यदि वे गर्भवती थीं तो बावज़ूद इसके कि गर्भपात ग़ैर-क़ानूनी था, उनका गर्भपात कराया गया।" (खान, तहमीना: The Express Tribune (Blogs); 13 अगस्त 2015)।

5. विभाजन के समय अपनी स्त्रियाँ विधर्मियों के हाथ न पड़ जाएँ, इसके लिए स्त्रियों द्वारा सामूहिक आत्महत्या की घटनाओं के उदाहरण भी इतिहास में मिलते हैं। इन स्त्रियों के सामूहिक आत्महत्या के इस निर्णय के पीछे कौन थे, इस बारे में मतैक्य नहीं है।विधर्मियों के हाथ में पड़ने के क्या दुष्परिणाम होते हैं, इस पर ऊपर चर्चा की गई।यौन-हिंसा, बलात्कार, जबरन विवाह के अतिरिक्त धर्म-परिवर्तन एक बड़ी परिघटना के रूप में सामने आया। विवाह के लिए स्त्री का धर्म बदलवाना जरूरी था।धर्म-परिवर्तन विधर्मी पर वर्चस्व के प्रतीक की तरह प्रचलित हुआ।विधर्मियों की स्त्रियों का अपहरण करना, फिर उनसे विवाह करने के लिए उनका धर्म-परिवर्तन कराना; यह एक निरन्तर चलने वाला सिलसिला था।यह नौबत न आए, इसलिए स्त्रियों द्वारा सामूहिक आत्महत्या के क़दम उठाने के उदहारण पाए जाते हैं।अन्वेषासेन गुप्ता ने अपने एक लेख 'Looking Back at Partirion and Women: A Factsheet' में इस तथ्य का विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है कि स्त्रियाँ अपने व्यवहार द्वारा पितृसत्तात्मकता का अन्तर्निर्वहन करती देखी जाती हैं। अपने धर्म की पवित्रता और विशुद्धता को बचाए रखने के सिलसिले में स्त्रियों ने सामूहिक आत्महत्याएँ कीं।अन्वेषासेन गुप्ता ने इसका एक उदहारण देते हुए लिखा है कि रावलपिंडी के पास के थोया खालसा नामक गाँव में कोई 96 स्त्रियों ने इस डर से कि कहीं उनका धर्म परिवर्तन न हो जाए,कूएँ में कूदकर अपनी जान दे दी। (द्रष्टव्य : सेनगुप्ता, अन्वेषा; 'Looking Back at

Partirion and Women: A Factsheet' शीर्षक लेख ; www.wiscomp.org/ peaceprints.htm)।

6. विभाजन के परिणामस्वरूप शरणार्थी-समस्या उत्पन्न हुई।इसमें पुरुष शरणार्थी भी थे तथा महिला शरणार्थी भी। लेकिन जेंडर के आधार पर दोनों की समस्याएँ, पीड़ाएँ एक-दूसरे से भिन्न थीं।अन्वेषासेनगुप्ता ने अपने उक्त लेखमें भारत राज्य द्वारा पंजाब और बंगाल के शरणार्थियों के लिए अलग-अलग मानदण्ड अपनाए जाने का हवाला दिया है। उन्होंने लिखा है कि बंगाल की बजाय पंजाब के शरणार्थियों को सरकार ने ज़्यादा महत्व दिया था।इन दोनों क्षेत्रों की महिला शरणार्थियों के बीच भी विभेद किया जाता था। जैसे कि पंजाब की महिला शरणार्थियों को भत्ते के बतौर 20 रुपए मिलते थे, जबकि बंगाल की महिला शरणार्थियों को मात्र 12 रुपए मिलते थे। (द्रष्टव्य : सेनगुप्ता, अन्वेषा; 'Looking Back at Partirion and Women: A Factsheet' शीर्षक लेख ; www.wiscomp.org/peaceprints .htm)।

## जेंडर-दृष्टि से इतिहास का अध्ययन

अन्ततः बतौर निष्कर्ष हम अब यह कह सकते हैं कि भारत-विभाजन की ऐतिहासिक घटना का स्त्रियों की ज़िंदगियों पर पुरुषों से अलग कुछ विशिष्ट ही प्रभाव पड़ा था। जैसा कि हमने देखा, ये प्रभाव व्यक्तिगत, सामाजिक एवम् आर्थिक सब प्रकार के थे। जेंडर की भिन्नता के चलते प्रभावों की यह भिन्नता देखने में आती है। स्त्री-दृष्टि से जब भी हम भारत-विभाजन पर बात करेंगे, लगभग इसी तरह के निष्कर्षों तक पहुँचेंगे। एक तरह से स्त्री-दृष्टि से यह इतिहास का पुनरवलोकन (रेविज़िटिंगहिस्ट्री) होगा। इस दृष्टि से इतिहास का पुनरवलोकन आवश्यक है, क्योंकि इससे इतिहास का असल रूप हमारे सामने उजागर होता है। राज्य, राज्य के अंगोपांगों,जनता के विभिन्न वर्गों/समूहों इत्यादि ने किसी काल-विशेष या संक्रमणात्मक स्थिति में कब क्या कैसी भूमिका निभायी; यह इससे बख़ूबी उकेरा जा सकता है। स्त्री-दृष्टि से इतिहास का पुनरवलोकनऔर पुनर्मूल्यांकन जब हम करते हैं तो यह भीषण तथ्य भी हमारे सामने आकर उपस्थित होता है किस्त्री के प्रति भारत जैसे देशों में अभी भी देहवादी, सेक्सवादी, लम्पट रवैया अधिकतर देखने में आता है। स्त्री को उसकी जाति, वर्ग, कुटुम्ब, देश इत्यादि का प्रतीक-प्रतिनिधि मानकर उसे अपमानित, ज़लील, पददलित कर उसकी पूरी जाति, वर्ग, कुटुम्ब, देश इत्यादि से 'बदला' लिया जाता है। जैसा कि हम जानते हैं,भारत-विभाजन के दौरान यह सर्वत्र देखने में आया।साम्प्रदायिक दंगों में स्त्रियों पर जबर्दस्त यौन-हिंसा हुई। बलात्कार, सामूहिक बलात्कार, अपहरण, अगवा कर इधर-उधर कर देना इत्यादि वारदातें खूब हुईं। पुरुषों को इस सारी ज़िल्लत से नहीं गुज़रना पड़ता। औरतों को ही यह सब झेलना पड़ता है। दरअसल इसीलिए जेंडर-दृष्टि से इतिहास का अध्ययन-पुनरध्ययन निहायत ज़रूरी है।

# स्थानीय लोकगीतों में झूलता हुआ भविष्यादर्शी सवेरा

**डॉ. आरिफ जमादार**
शनिवार पेठ, सोलापुर -४१३००२ महाराष्ट्र

**विषय सार :**
झूलों के गीतों में बचपन का वही सबक जो माँ के गोद से मिला हो या फिर झुलते हुए झुले में सुनाया गया हो, वह धिरे - धिरे बोये हुए दाने का बडा वृक्ष का रूप ले लेता है और कब छाँह के सौहार्द का नया प्रकरण लिखते बनेगा यह पता ही नहीं चलता। ममता की महानदी के किनारे ही बोयी हुई यह फसल जलाराय के दर्पण में आज चहेरा निहारने को प्यासी है। ऐसे में कटी या कटाई गयी फसल को सहारे का एक दस्त मिल जाए तो उफ्फान का गीत फिर बहरेगा - देखना; क्योंकि पहले वाणी की ध्वनि ही हर मनुष्य का इतिहास बनता हुआ दिखाई देता है। किसी ने क्या खूब कहा है कि, "माँ के गोदी में छिपी जुगनू की रौशनी ही सही सूरज का पता बताती है।" अंधेरे में चमकने वाले सितारे बहुत-से होते हैं लेकिन, बालार्क की रौशनी ही इन्सानी जिस्म के खारीज को दूर करती है। अतः यहाँ आवश्यक है कि, माँ के गोदी का हर एक शब्द बच्चे की अनुगूंजनता बने ताकि कल का उगने वाला सूरज अपनी जगह नही बल्कि, इन्सानी जरूरत पर अपनी रफ्तार बयान करने वाला बन जाए।

**पद्धति:**
इस शोधालेख के स्पष्टोक्ति के लिए सर्वेक्षण पद्धति को अपनाया गया है।

आज 'लोक' शब्द के बहुतेरे प्रयोग मिलते हैं। 'लोक' शब्द का भाव है-'समस्त विश्व का एक प्रभाग जिसमें संसार का योग हो।' हम संसार को समष्टि का रूप मानते है। कल्पना के आधार पर समष्टिगत रस्म का बोध कराकर विराट-व्यापक व्योम की कल्पदृष्टि को कल के जीवसृष्टि का आकार जहाँ मिलता हो वहाँ 'लोक' का प्रकाशपथ ज्ञात होता है। 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम' का सीमित भाव नहीं बल्कि उसमें जीवित जीवन के अभ्यस्त की नई राह है ; जिसको समझना वक्त की मांग के साथ समय की जरूरत भी है। अपने परिवेश में झूले के गीतों में सिर्फ बच्चों के रोने की आवाज को थमाने का साधन नहीं वरन उसमें तो जीवन के हर शाख की व्याख्या भी दर्ज की गई है।

मनुष्य का जीवन अलग-अलग परिच्छेदों से संजोयी गई एक ऐसी अंखण्डित कहानी है, जिससे कहानी के अंत में नायक के गुणोत्कर्ष या गुणोपकर्ष का फैसला तय कराने में सहयोग देती है। निर्णय के समय हमारी स्मृति केद्रीत हो जाती है कि, अंत सुखांत है या दुखांत लेकिन, हम यह भूल जाते है कि अंत वैसा ही क्यों नही जैसी कहानी की पहल देखी गई थी! क्योंकि इस बात का पहला प्रमाण उस झुले का गीत है जिसमें कल का भविष्य सोया हुआ था; उसकी रौशनी उन्हीं कागजों पर लिखी जाएगी जो वक्त के रंगकूँजी में भिगोई गई होगी। मनुष्य का जीवन उस "लल्ला लोरी-लोरी दूध की कटोरी" से शुरु हुई कटोरी की खनक ही है, जो हाथ के ताल से पूरी होती है। यह तो चमच की दूरी तय करेगी कि दूध नायक के हलक के नीचे उतरकर विजयारथ का अनुभागी बनेगा या फिर, मूँह में जमें हुए दूध को 'फूर्रर्र' से उडा कर समाज रूपी बजर को बजाना है। माँ के गोद का सुना हुआ वह नींद का सहारा बच्चे के जीवन का सबसे बडा प्राक्कथन होता है क्योंकि, उसी प्राक्कथन पर कल के उगने वाले सूरज को अम्बर के सफाई की खबर मिलती है। डॉ. नामवर सिंह ने एक स्थान पर लिखा है कि- "आज भी स्त्रियों के गीतों में प्राचीनता की छाप अधिक है।"1 इस धारणा के पीछे एक कारण भी है, अगर मदरसा खडा करना है तो उस्ताद की परछाई साफ होनी चाहिए क्योंकि 'बच्चों का पहला मदरसा माँ का गोद ही होता है।'

सूखी मिट्टी में अगर सोने की फसल उगानी है तो जरुरी है सोने की पहरेदारी के लिए I.S.O नामकंन वाली मजबूत दिवार हो- जो धान कि पूरी यकिनी पहरेदारी का जिम्मा उठा ले। जहाँ तक समझा या देखा है, झूले के लोकगीतों में ही उस बच्चे के जीवन को आकार देता बनता है। डॉ. हरि सिंह पाल का कथन लोकगीत और मनुष्य जीवन के संदर्भ में बिल्कुल समीचीन लगता है- "लोक साहित्य विशेषत: लोकगीतो में माटी की स्वाभाविक सुगंध होती है और इनके माध्यम से हम मानव के आदिम रुप से परिचित होते हुए भी उसके विकास, उसके परिवर्तनों और प्रयत्नों को समझते हैं।"2 बच्चा अपने श्रवण के माध्यम से इन्ही गीतों के आधारपर अपने मानवी दिहंरा में बंद सूरत को आकार देने लगता है। लोकगीतों में वह गीत ही लीजिए, जिसमें माँ अपनी जरुरत को पूरी करने के लिए समय का सहारा चाहती है, लेकिन सहारे को समृद्धि का सपना दिखाते हूए-

*"आगे-आगे गायी*
*दे-गे दूध मलाई*
*मेरे तान्हें को गे खलायी*
*लाल दूध पो की गे मलाई*
*मेरा तान्हा जो रोया तो*
*उसे बातो में समझाई*
*आगे-आगे गायी"*

यहाँ माँ अपने मन कि दो महत्वपूर्ण बातें अपने गोद में पड़े हुए समय को सुनाना चाहती है:-

1. समय की समझ स्मृति के उलझनों से होती है।
2. मानवी व्यवहार की हकीकत हाल के अम्र की सच्चाई होती है।

तो वही गोद में पडा समय अपनी सायकोलॉंजी से 'आगे-आगे' शब्द से बस! अपनी वक्त की जरूरत समझता है उसे तो आधे खाली ग्लास से कोई वास्ता ही नहीं आधे भरे ग्लास से ही वह उस वस्तु के अंतिम स्थिति को प्राप्त करने का अभ्यासी बन जाता है।

भारतीय परिवेश के स्थानीय लोकगीतों में समय की पूरी व्याख्या भविष्यादि शब्दलहरी से अनुप्रित कराई जाती थी। मनु भावनाओं का संबंध समय के धूरी से तराशी जाती है। और अक्सर लोकगीतों में बीते हुए दिनों की सारणी, वर्तमान की रहबरी और भविष्य के संजोए सपनों की इच्छा ही हमें नजर आती है। प्रकति ने अपने व्यापक सहृदयता का एक उदाहरण जहाँ नारी को बनाया है, तो वही 'श्रम' को स्त्री जीवन का त्यौहार भी घोषित किया है। यह नारी का श्रम 'गऊ' के उस दूध जैसा है जो रीजा में सर्वोत्तम है, तो वही; अपनी श्रेमीष्ठा से बंजर को गुलिस्ता करने वाली सानंदीवन भी। स्त्री के द्वारा समाजाऐधिक्य के लिए किए गए तप का ही यह नतीजा है कि खिले हुए गुलिस्ता के लिए हट्ठा-कट्ठा एक माली तो रखा गया; अगर स्त्री अपनी ममता के आँचल को फैलाएगी नही तो गोद में पडे हुए को सुखांत तो दरकिनार उसका भू-परिभ्रमण भी मूश्किल है। नारी अपनी सहृदयता को सुनाते हुए कहती है-

"घानी-मुनी धोर दे
पानी दमोर दे"

नारी को अपने हाथो से झूलते हुए दहलंबोदर को यह समझाना है कि,अपने जीवन कश्ती के सागर में सारथी के मुख कि सलाह भी एक गुरुपदेश का अर्थ देती है- बस; समय से उसे भापना यह झुले के रफ्तार पर आधारित होती है-

*"मेरी बेटी बडी यलमदार*
*उनों पडेगे किताब.... अ*
*घर को आएगें जब ओ*
*हसते रह जाएगे-अं...."*

यकीनन गोद का बचपना ही अपने सुने हुए फूलाव को नए आकार का फूलरा विकसीत करने में सहयोग देता है। जीवन का 'रण' उसीका नाम है जहाँ 'बने हुए को बसाए, बसाए हुए को सुधारे और सुधारे हुए को सौंदर्य का वह अर्थ प्रदान करे जिससे समय की वाणी को सहयोग नहीं बल्कि सृष्टि के वजूद को स्मृति बहाल कर सके।

एक उदाहरण हम अपने रास्ते भटकते हुए कदमों में कभी हमने देखा भी होगा कि, रास्ते टहलते हूए वृद्ध मनुष्य की लाटी एक छोटा बच्चा होता है। वह लडखडाने वाले वृक्ष को प्यार के जल से तरोताजा बहारने को विवश करता है। वह, अपनी मासुमियत से उस वृद्ध का हाथ अपने कंधों पर रखकर आगे सीना-तान निकलता है: उसकी उस मासुमियत से कभी न रूकने वाली गड्डी भी अपने-आप रूककर उस बच्चे को 'पहले आप' का निमंत्रण देती है। अगर आप उस बच्चे को सवाल करे कि, वह उस वृद्ध का सहारा क्यों बना? तो उसका प्यारा-सा जबाब होगा कि- *"माँ कहती है बड़ो की दुआ लेता जा; दुआ लगने में देर ही क्यों न लगे लेकिन,फौरन तु देखेगा हाथ में मिठी गोली है या फिर चव्वनी।"* बच्चा भी कटिबद्ध होता है अपने सूने हुए को कृतिबद्ध करने में-

*"मेरा राजा बेटा, कंधा देने*
*मेरी राणी बेटी, जग का मुँह ,खोलने*
*बेटा-बेटी क्या है, उनी दे सो फूल*
*मारुँगी न काँटूगी*
*उन्हें ऐसेच खिलने दूँगी*
*जब ओ खिलैगे बगीचा*
*मै भौरा बन उड जाऊँगी"*

जीवन को सुखी बनाने का एक राजमार्ग इन्हीं गीतों में हमें प्राप्त होता है। अपने सहचर के साथ जीवनांद से लुफ्त उठाने का एक रास्ता झुले के निखार में ही लोकाभाव का एक अहम तत्व समाया हुआ है। परिवेश से बदलते हुए रिश्तों में पीयुष के कुछ छींटे मिल जाए तो कुदरत का बनाया हुआ और नुमाया हुआ रादला कैसे हो सकता है ! उसकों भी बच्चों के ध्वनि कृदंन मे बताया गया है-

*"मेरे राजा, देर न कर आने में,*
*कब से खडी हुँ मै तेरी राह देखते*
*देख हाथ तु, बेलन डर न जाना*
*देख ले मुँह, फिर माला फेरना*
*थोडी देर में चम्पा चाय बनाएगी*
*बंधा जो कुदरत का करिश्मा*
*तुझसे दूर वह कैसे रह पाएगी।"*

इन झूलों के स्थानीय लोकगीतों में जहाँ भाव-वार्ता का एक निश्चित शास्त्र है तो वहीं अपने जीवन को सिद्धांतों पर ढालने की एक समझ भी।

**भाषा सौंदर्य का प्रयोग :**

**मुहावरे-** 1. दूध पर की मलाई खाना
2. किताब की समझ होना
3. भौंरा बन उड़ जाना

**कहावतें-** 1. बेलन का डर
2. घर को बाग बना देना

**संदर्भ:**

1. लोरी के गीत स्थानीय परिवेश के

**सहायक ग्रंथ:**

1. डॉ. नामवर सिंह, साहित्य की पहचान
2. डॉ. हरि सिंह पाल, लोक काव्य के क्षितिज

## हिन्दी पर महापुरुषों के विचार

हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य को सर्वांगसुंदर बनाना हमारा कर्त्तव्य है।

- डॉ. राजेंद्रप्रसाद

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

- भारतेंदु हरिश्चंद्र

भाषा के उत्थान में एक भाषा का होना आवश्यक है। इसलिए हिन्दी सबकी साझा भाषा है।

- पं. कृ. रंगनाथ पिल्लयार

मैं मानती हूँ कि हिन्दी प्रचार से राष्ट्र का ऐक्य जितना बढ़ सकता है वैसा बहुत कम चीजों से बढ़ सकेगा।

- लीलावती मुंशी

हिन्दी उर्दू के नाम को दूर कीजिए एक भाषा बनाइए। सबको इसके लिए तैयार कीजिए।

- देवी प्रसाद गुप्त

Arunachal Pradesh
Sikkim
Assam
Nagaland
Manipur
Tripura
Mizoram